भारतीय सभ्यता संस्कृति एवं धर्म

लेखक

हरविलास मिश्र एम ए



विद्या भवन

पुस्तक प्रकाशक, जयपुर–३

प्रकाशक
विद्या भवन
चौड़ा रास्ता, जयपुर-३

प्रथम संस्करण

मूल्य बारह रुपये मात्र

प्रभात प्रेस, मेरठ द्वारा मुद्रित

विषय सूची

Section B—SOCIAL SCIENCES

Attempt any THREE *questions*
All questions carry equal marks

1 Give a brief account of the principal factors in social growth laying special emphasis on the *role of technology* (प्रौद्योगिक भूमिका)

2 Describe in brief the Karl Marxian Socialism and the place it occupies in the modern political thought

3 Evaluate the contribution of Buddhism to Indian Culture

4 Enumerating the causes of political consciousness in India depict summarily the growth of the national movement from 1920 to 1947

5 Write a short account of the impact of Islam on Indian Culture

Or

Describe briefly the social and religious movements in India during the British regime

6 Write short notes on any *three* of the following —

(*i*) River Valley Civilisations
(*ii*) Pre Industrial Economy
(*iii*) Confucius and Lord Buddha
(*iv*) Periclean Age
(*v*) Bhakti Movement

प्रथम अध्याय

सामाजिक विकास का इतिहास

प्रस्तावना—यह समाज के विकास का अध्ययन है और समाज उस मानव से बनता है जो सभ्य है। सभ्यता सदैव विकासमय होती है और इसीलिए परिवर्तनशील। केवल मौलिक तत्व उसी प्रकार रहते हैं, किन्तु उसका बाह्य रूप सदैव निखरता रहता है। इसी परिवर्तन के कारण उसके विकास क्रम का अध्ययन आवश्यक होता है और रुचिकर भी। प्रत्येक विकासशील वस्तु के भूतकाल का अध्ययन बहुधा आनन्ददायक होता है, चाहे अच्छा हो चाहे बुरा। यदि अच्छा रहा है तो उसका स्मरण ही प्रेरणादायक और सुखकर होता है और यदि बुरा रहा है तो उससे एक बहुत बड़ी सफलता का अनुभव होता है कि कितने बुरे समय से निकल कर अब उत्तम समय का अनुभव कर रहे हैं। अतः मनुष्य की सभ्यता का इतिहास एक बहुत ही उत्सुकतापूर्ण विषय है। वास्तव में मनुष्य उत्पन्न कैसे हुआ, पृथ्वी क्या है किस प्रकार इसका सृजन हुआ, मनुष्य सभ्य किस प्रकार हुआ और किन-किन परिस्थितियों में होकर आज वर्तमान सीमा तक पहुँचा है, ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका स्पष्ट उत्तर पाने की इच्छा प्रत्येक सभ्य मानव की होती है। इसी विषय का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट विवेचन करना हमारा मुख्य ध्येय है।

समाज शब्द का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ में किया जा रहा है। उदाहरणार्थ मानव समाज, अर्थात् समस्त मानव मात्र द्वारा संगठित संस्था जो इस समय विद्यमान है। यह समाज प्रारंभ से विकसित ही होता रहा है। केवल भारतीय शास्त्रों में यह प्रकट होता है कि संसार में समय समय पर पूर्ण विकास के पश्चात् प्रलय के द्वारा इसका विनाश भी होता है और फिर भगवान नई सृष्टि की रचना करते हैं। परन्तु ये सब कहानियाँ सी लगती थीं। अब जब नई खुदाई से अति प्राचीन वस्तुयें प्राप्त होती हैं, शरीर के ढाँचे मिलते हैं शास्त्रों के भाग मिलते हैं तब अनुमान लगाए जाते हैं कि यह वस्तु दो हजार वर्ष पुरानी होगी, अमुक वस्तु ईसा की २०वीं सदी पूर्व की प्रतीत होती है। इस प्रकार यह स्वीकार करना पड़ता है कि समाज का विकास निरन्तर होता रहता है। यह समाज प्रगतिशील है। जब प्रगति रुकती है तो समाज शिथिल होकर नष्ट हो जाता है। अतः विकास के लिए प्रगति आवश्यक है तथा प्रगति के अभाव में समाज का निर्माण होकर लुप्त हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारा समाज गतिशील रहा है यह निश्चित है, परन्तु यह गति किस प्रकार हुई, किन किन श्रेणियों में होकर यह गुजरा है, इसका ज्ञान प्राप्त करना आज के सभ्य मानव के लिये अनिवार्य है। अपनी पूर्वगाथा जानने से मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति को ठीक प्रकार से समझने में समर्थ होता है। अतः अब हम इसी विषय का अध्ययन करेंगे कि समाज का विकास किन

पद्धतियों द्वारा किस क्रम से हुआ है।

प्रारंभिक अवस्थायें (Early Processes)—मनुष्य की कहानी मनुष्य के बहुत पहले से प्रारम्भ होती है जैसे कपड़े के पहले सूत है, सूत के पहले रुई है वैसे ही मनुष्य के पहले पृथ्वी है, चाँद और सूरज हैं। परन्तु हमारे विश्व का यह इतिहास आज भी पूर्ण रूप से ठीक ठीक ज्ञात नहीं है। आज से केवल २०० वर्ष पूर्व तक भी मानव को केवल पिछले लगभग तीन हजार वर्ष तक का ज्ञान था। इससे पूर्व क्या था यह केवल कल्पना और अनुमान का ही विषय था। परन्तु अब यह धारणा स्वीकार की जाती है कि पृथ्वी अनन्तकाल से है।

वैज्ञानिकों के मतानुसार सर्वप्रथम नक्षत्र सूर्य चन्द्र पृथ्वी आदि अत्यन्त उष्ण आग के जलते हुए रूप में एक ही पुञ्ज थे। यह पुञ्ज अपनी ही धुरी पर तीव्र गति से घूमता था। धीरे धीरे ऊपर का भाग ठण्डा होने लगा और ऐसी अवस्था आई कि उसके छोटे छोटे टुकड़े अलग हो गए किन्तु गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण वे उसी बड़े पुञ्ज के चारों ओर परिक्रमा करने लगे। यह शेष बड़ा पुञ्ज आज भी है जिसे सूर्य कहते हैं और उससे अलग हुआ भाग है हमारी पृथ्वी। इस पृथ्वी से अलग होकर इसी की परिक्रमा करता हुआ दूसरा भाग है चन्द्रमा। अन्य नक्षत्र भी इसी प्रकार सूर्य से पृथक हुए हैं और उसकी परिक्रमा करते हैं। अनुमान है कि इन ग्रहों को शीतल होने में करोड़ों वर्ष लग गये।

इस पृथ्वी पर प्राणी का प्रथम आविर्भाव कब हुआ? इस प्रश्न का उत्तर आज बीसवीं सदी का मानव भी अनुमान के सहारे ही दे सकता है। पृथ्वी धीरे धीरे ठण्डी होने लगी और ठण्डी होने के बाद उस पर जीव जन्तु जन्मे। जल को जीवन भी कहते हैं सम्भवतः पहला जीव जल में ही पैदा हुआ। ऐसा जीव जो विचरण नहीं करता था परन्तु वहीं अपना आहार प्राप्त कर लेता था। फिर पौधे उत्पन्न हुए और उनके पश्चात अन्य जीव। इनके बाद समुद्र के तल में रेंगने वाले दूसरे जीव उत्पन्न हुए। इस समय तक भी सूखी जमीन पर जीव अथवा पौधों का अस्तित्व नहीं था।

प्रारम्भ में जल में रेंगने वाले जीवों के रीढ़ की हड्डी अथवा मस्तिष्क नहीं होते थे इसलिए वे असहाय होते थे। फिर क्रमिक विकास द्वारा मत्स्य युग आया और मछली उत्पन्न हुई जिसमें रीढ़ की हड्डी व मस्तिष्क सब थे। इसके पश्चात शुष्क भूमि पर वनस्पति उत्पन्न होने लगी परन्तु जीव ऐसे हुए जो जमीन पर भी रहें किन्तु जल में भी रहें जैसे केंचुए कछुए आदि। फिर छोटे छोटे पाँव वाले जलचर हुए जिनके पर मजबूत होते थे और उसके पश्चात थलचर अवतीर्ण हुए। पहले बन्दर तब हनुमान फिर वनमानुष और अन्त में मनुष्य। इसे जन्म देकर प्रकृति धन्य हो गई। मनुष्य धरती का वह लाल था जो बुद्धि बल से जल-थल और व्योम का स्वामी बना।

मानव विकास की विभिन्न अवस्थायें—अन्य जीवों के विकास क्रम की भाँति मानव के विकास की भी कई अवस्थाएँ रही हैं यह स्वीकार किया जाता है।

वैज्ञानिकों ने चट्टानों की आयु के अनुसार यह निष्कर्ष निकाला है कि पृथ्वी पर जीव की उत्पत्ति निम्न अवस्थाओं में होकर हुई है —

(१) पूर्व लुप्त जीवकाल (Azoic Age)—इस युग में पृथ्वी पर किसी प्रकार के जीव जन्तु अथवा वनस्पति नहीं थी। धीरे धीरे जल की अधिकता के कारण जल में ही जीव उत्पन्न होने लगे, किन्तु उनमें गतिशीलता का अभाव था।

(२) प्रारम्भिक जीवकाल (Palaeozoic or Primary Age)—इस युग में छोटे छोटे एक कोष वाले और अगहीन प्राणी उत्पन्न हुए जिन्हें 'जली फिश' आदि नाम दिए गए तथा थल-चर प्राणियों की उत्पत्ति हुई। पानी के तट पर वनस्पति उत्पन्न होने लगी और जन्तु जगत की सृष्टि हुई। इसी युग में जल-थल चर (amphibious) तथा पेट के बल रेंगने वाले प्राणी (reptiles) हुए।

(३) उत्तर जीवकाल (Mesozoic or Secondary Age)—इस युग में पेट के बल रेंगने वाले बड़े आकार के प्राणियों की सृष्टि हुई। इनमें से कुछ तो ८८ फीट की लम्बाई तक के भी होते थे। तत्पश्चात पक्षी तथा स्तनधारी जीव उत्पन्न हुए परन्तु इनका प्रारम्भिक रूप ही था।

(४) नवीन जीवकाल (Cainozoic or Tertiary)—इस युग में नवीन प्रकार के विकसित प्राणी उत्पन्न हुए जो स्तनधारी तथा स्तनपेयी (स्तन से दुग्धपान करने वाले) थे। यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण चमत्कार था। इससे पूर्व के लगभग सभी प्राणी अण्डज थे किन्तु ये पिंडज हुए। अर्थात अपने अण्डों को शरीर के भीतर ही धारण करते थे और शिशु का पूर्ण विकास हो जाने पर उसे प्रसव करते थे तथा स्तन से दूध पिलाकर उसका पोषण करते थे। बन्दर, पशु जैसे भैंस घोड़ा आदि तथा अर्द्ध मानव का विकास इसी युग में हुआ। अधिकांश विद्वानों का मत है कि मानव एसे ही वनमानुष की सतान है जैसे गुरिल्ला चिम्पेंजी और ओरेंग-उटंग।

(५) पूर्व पाषाण युग (The Pleistocene period The Palaeolithic Age)—इस युग में पहले अर्द्ध मानव था बाद में मानव का विकास हुआ। अनेक प्रकार के मानव जो विभिन्न स्थानों पर विकसित हुए इसी समय की घटना मानी जाती है। पिथकैथ्रोपोस मानव हाईडलबर्ग मानव, नियनडरथल मानव रोडेशियन मानव की गणना इस सम्बन्ध में ही की जाती है। इसी के लगभग चार या पाँच लाख वर्ष पूर्व यह युग था जब मानव का आविर्भाव हुआ। इसका प्रमाण उस समय मिला जब सन् १८९१ ई० में हालैण्ड के एक चिकित्सक यूजिन डूबॉय ने जावा में आदिम मनुष्यों की कुछ हड्डियाँ खोज निकाली। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर जैसे चीन में पीकिंग जर्मनी में हाईडेलबर्ग और इंगलैंड में पिल्टडाउन में भी आदि-मानव की अस्थियाँ मिलीं। इसी आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि मानव पूर्व पाषाण युग में ही विकसित हुआ था।

(६) उत्तर पाषाण युग (The Neolithic Age)—इसे पत्थर का नवीन युग भी कहा जाता है। इस युग में मनुष्य ने आग पर विजय पाई थी, खेती करना

सीखा था, नदियों के किनारे बसने की उपयोगिता समझी, परस्पर सहयोग से कार्य करने की भावना उत्पन्न हुई। इसके पश्चात् से मानव के विकास का इतिहास लगभग सत्य प्रमाणों पर ही आधारित है।

साधारण रूप में मानव सभ्यता का इतिहास दो भागों में अध्ययन किया जाता है। प्रथम, लेखनकला व लिपि के आविष्कार और प्रचलन से पूर्व का प्रागैतिहासिक युग, जिसमें पाषाण युग, ताम्र युग, कांस्य युग तथा लौहयुग भी सम्मिलित हैं और दूसरा ऐतिहासिक युग जो उक्त लेखन तथा लिपि के प्रचलन के पश्चात् आरम्भ होता है। इस प्रकार उपरोक्त अनेक श्रेणियों में होकर मानव का विकास हुआ है। यदि हम जीव के विकास का प्रारम्भिक क्रम छोड़ दें तो मानव का विकास मुख्य चार श्रेणियों में माना जा सकता है। (१) अर्द्ध मानव, (२) मानव, (३) प्राचीन मानव तथा (४) वर्तमान मानव।

(१) अर्द्ध-मानव—यदि मानव को हम बन्दर की सन्तान न भी मानें तो भी इस समय मनुष्य बन्दर से मिलता जुलता तो था ही। यह अर्द्ध-मानव भूमि पर निवास करता था, अपने पैरों के बल पर ही चलता था, परन्तु उसकी बुद्धि विकसित नहीं थी। उसमें सोचने की शक्ति नहीं थी। मस्तिष्क अधिक कार्य नहीं कर सकता था। फिर भी अपने हित को समझता था। यह अर्द्ध मानव था।

(२) मानव—इस अवस्था में मनुष्य ने अपना निवास सुरक्षित स्थान में करना सीखा, आहार प्राप्त करना तथा संग्रह करना सीखा और अनेक प्रकार के साधन जीवन को सुखी बनाने के लिए जुटाने लगा। यह मानव की वह अवस्था थी जब अन्य प्राणियों की अपेक्षा वह एक चतुर प्राणी बन गया था।

(३) प्राचीन मानव—यह मानव की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था थी। इस समय मानव को अग्नि का ज्ञान था और अनेक साधनों से अपेक्षित स्थान पर पत्थर की रगड़ आदि से अग्नि उत्पन्न कर पेड़ पत्तियाँ जलाकर उसका उपयोग करता था। शरीर रक्षा के हेतु पशुओं के पत्ते तथा चमड़े का प्रयोग भी आरम्भ कर दिया था। बोलने तथा अपनी भावाभिव्यक्ति की कला भी वह सीखने लगा था परन्तु फिर भी अभी पूर्ण विकसित नहीं था।

(४) वर्तमान मानव—किस समय से यह मानव अस्तित्व में आया, इसका ठीक प्रमाण तो आज भी उपलब्ध नहीं है किन्तु अनुमान से लगभग २५ हजार वर्ष पूर्व से वर्तमान मानव के विकास का समय आँका जाता है। आधुनिक सभ्यता के युग की विभिन्न विशेषताओं का क्रमिक विकास इसी मानव के मस्तिष्क की उपज है। अन्य समस्त प्राणियों पर इसी बुद्धि के बल पर वर्तमान मानव का पूर्ण अधिकार स्थापित है।

प्राचीन समाज (Primitive Societies)—वैसे तो समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई सिद्धान्त प्रचलित रहे हैं जिनके द्वारा भिन्न भिन्न विद्वान समाज की रचना अलग अलग साधनों अथवा कारणों से मानते हैं जैसे दैवी सिद्धान्त, सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त, प्रवृत्ति सिद्धान्त (Instinct Theory) तथा विकास सिद्धान्त।

आजकल केवल विकास सिद्धान्त को ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। यहाँ हम इसी सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे।

मानव जीवन के आरम्भ से ही समाज की रचना निरन्तर विकास के फल-स्वरूप हुई है यह स्वीकार किया जाता है। इस विकास की निम्नलिखित चार प्रमुख श्रेणियाँ मानी जाती हैं —

(१) आखेट जीवन, (२) चरवाहा जीवन, (३) कृषक-जीवन तथा (४) औद्योगिक जीवन।

(१) आखेट जीवन—मानव समाज के विकास का प्रथम सोपान आखेट-मय जीवन था। इस समय मनुष्य अपने छोटे छोटे संगठित दलों में रहता था। ये दल फल एकत्रित करते थे और जानवरों का शिकार करते थे और दल के सभी सदस्य भोजन आदि की आवश्यकता के कारण ही साथ रहते थे। संगठन सरल था। जो कुछ मिलकर प्राप्त करते थे, उसका बटवारा समान रूप से कर लिया जाता था। उस समय कोई शासक, सरकार, सम्पत्ति नियम अथवा विधान समाज में नहीं थी। यहाँ तक कि पारिवारिक जीवन का भी कोई रूप विकसित नहीं हुआ था। संकट काल के लिये खाद्य सामग्री एकत्रित करके रखने की प्रवृत्ति भी जाग्रत नहीं थी। जो कुछ मिल जाता था या प्राप्त करते थे उसे समाप्त कर देते थे। संसार उन्हें भयावह (सकटमय) लगता था। कभी कभी अकाल महामारी आदि भी उन्हें सताती थी। जीवन के श्रम और प्रेम पक्ष पर विचार करने का समय उन्हें नहीं मिलता था। विभिन्न दलों में विभिन्न नियम एवं परम्परायें थीं सामान्य नियमों का अस्तित्व नहीं था। अपने दल के सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से अधिकारों की स्वीकृति नहीं थी। ज्ञान युक्त सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से यह समय अत्यन्त कष्टप्रद था।

(२) चरवाहा जीवन—आखेट जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन मुख्य रूप से जानवर पालन की प्रथा के कारण हुआ और इसी कारण से चरवाहा जीवन का समारंभ हुआ। अब समाज का आकार बढ़ने लगा दलों का विस्तार वंश एवं जातियों में होने लगा, क्योंकि खाद्य समस्या अब पहले जैसी विकट न रहकर, पशु-पालन की प्रथा द्वारा अत्यन्त सरल हो गई थी। इस समय अनेक पत्नी प्रथा की संस्था का विकास हो रहा था और विवाह के द्वारा परिवार की संस्था जम रही थी, जिसमें पिता उसकी पत्नी, सन्तान, सन्तान की सन्तान (विशेष रूप से केवल पुत्र तथा पुत्र वधुएँ और उनकी सन्तान) सम्मिलित होती थीं। परिवार के अध्यक्ष को अपने सदस्यों के जीवन तक पर पूर्ण अधिकार होता था। अनेक परिवारों से वंश तथा जातियाँ बनकर बड़े समूह स्थापित होते थे इस प्रकार समाज का सगठन रक्त सम्बन्ध पर आधारित था। इनका मुख्य व्यवसाय पशु पालन होता था, इसलिए चरागाह की सुरक्षा और अधिकार बहुत प्रधान समझा जाता था। आखेट जीवन की अपेक्षा इस जीवन में सुरक्षा अधिक थी, किन्तु फिर भी ये एक स्थान पर स्थायी निवास नहीं कर सकते थे। एक स्थान का चरागाह सूख जाने पर या समाप्त हो

सीखा था, नदियों के किनारे बसने की उपयोगिता समझी, परस्पर सहयोग से कार्य करने की भावना उत्पन्न हुई। इस प्रकार से मानव के विकास का इतिहास लगभग सत्य प्रमाणों पर ही आधारित है।

साधारण रूप में मानव सभ्यता का इतिहास दो भागों में अध्ययन किया जाता है। प्रथम लेखनकला व लिपि के आविष्कार और प्रचलन से पूर्व का प्रागैतिहासिक युग, जिसमें पाषाण युग, ताम्र युग, कांस्य युग तथा लौहयुग भी सम्मिलित हैं और दूसरा ऐतिहासिक युग जो उक्त लेखन तथा लिपि के प्रचलन के पश्चात् आरम्भ होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर अनेक श्रेणियों में होकर मानव का विकास हुआ है। यदि हम जीव के विकास का प्रारम्भिक क्रम छोड़ दें तो मानव का विकास मुख्य चार श्रेणियों में माना जा सकता है। (१) अर्द्ध मानव (२) मानव (३) प्राचीन मानव तथा (४) वर्तमान मानव।

(१) अर्द्ध-मानव—यदि मानव को हम बन्दर की सन्तान न भी मानें तो भी इस समय मनुष्य बन्दर से मिलता जुलता ही था। यह अर्द्ध मानव भूमि पर निवास करता था, अपने पैरों के बल पर ही चलता था, परन्तु उसकी बुद्धि विकसित नहीं थी। उसमें सोचने की शक्ति नहीं थी। इसलिए अधिक कार्य नहीं कर सकता था। फिर भी अपने हित को समझता था। यह अर्द्ध मानव था।

(२) मानव—इस अवस्था में मनुष्य ने अपना निवास सुरक्षित स्थान में करना सीखा, आहार प्राप्त करना तथा संग्रह करना सीखा और अनेक प्रकार के साधन जीवन को सुखी बनाने के लिए जुटाने लगा। यह मानव की वह अवस्था थी जब अन्य प्राणियों की अपेक्षा वह चतुर प्राणी बन गया था।

(३) प्राचीन मानव—यह मानव की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था थी। इस समय मानव को अग्नि का ज्ञान था और अनेक साधनों से अपरिचित स्थान पर पत्थर की रगड़ से अग्नि उत्पन्न कर पशु पक्षियों को मारकर उसका उपयोग करता था। शरीर ढकने के लिए पशुओं के खाल तथा चमड़े का प्रयोग भी प्रारम्भ कर दिया था। बोलना तथा अपनी भावाभिव्यक्ति की कला भी वह सीखने लगा था परन्तु फिर भी अभी पूर्ण विकसित नहीं था।

(४) वर्तमान मानव—जिस समय से यह मानव अस्तित्व में आया इसका ठीक प्रमाण तो आज भी उपलब्ध नहीं है, किन्तु अनुमान से लगभग २५ हजार वर्ष पूर्व से वर्तमान मानव के विकास का समय आंका जाता है। आधुनिक सभ्यता के युग की विभिन्न विशेषताओं का क्रमिक विकास इसी मानव के मस्तिष्क की उपज है। अन्य समस्त प्राणियों पर इसी बुद्धि के बल पर वर्तमान मानव का पूर्ण अधिकार स्थापित है।

प्राचीन समाज (Primitive Societies)—वैसे तो समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई सिद्धान्त प्रचलित रहे हैं जिनके द्वारा भिन्न भिन्न विद्वान समाज की रचना अलग अलग साधनों अथवा कारणों से मानते हैं जैसे दैवी सिद्धान्त, सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त, प्रवृत्ति सिद्धान्त (Instinct Theory) तथा विकास सिद्धान्त।

आजकल केवल विकास सिद्धान्त को ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। यहाँ हम इसी सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे।

मानव-जीवन के आरम्भ से ही समाज की रचना निरन्तर विकास के फलस्वरूप हुई है यह स्वीकार किया जाता है। इस विकास की निम्नलिखित चार प्रमुख श्रेणियाँ मानी जाती हैं —

(१) आखेट जीवन, (२) चरवाहा जीवन, (३) कृषक-जीवन तथा (४) औद्योगिक जीवन।

(१) आखेट जीवन—मानव समाज के विकास का प्रथम सोपान आखेटमय जीवन था। इस समय मनुष्य अपने छोटे छोटे संगठित दलों में रहता था। ये दल फल एकत्रित करते थे और जानवरों का शिकार करते थे और दल के सभी सदस्य भोजन प्राप्ति की आवश्यकता के कारण ही साथ रहते थे। संगठन सरल था। जो कुछ मिलकर प्राप्त करते थे उसका बटवारा समान रूप से कर लिया जाता था। उस समय कोई शासन सरकार, सम्पत्ति, नियम अथवा विधान समायें नहीं थीं। यहाँ तक कि पारिवारिक जीवन का भी कोई रूप विकसित नहीं हुआ था। संकट काल के लिये खाद्य सामग्री एकत्रित करके रखने की प्रवृत्ति भी जाग्रत नहीं थी। जो कुछ मिल जाता था या प्राप्त करते थे उसे समाप्त कर देते थे। संसार उन्हें भयावह (संकटमय) लगता था। कभी कभी अकाल महामारी आदि भी उन्हें सताती थी। जीवन के श्रेय और प्रेम पक्ष पर विचार करने का समय उन्हें नहीं मिलता था। विभिन्न दलों में विभिन्न नियम एवं परम्परायें थीं सामान्य नियमों का अस्तित्व नहीं था। अपने दल के सदस्यों का व्यक्तिगत रूप में अधिकारों की स्वीकृति नहीं थी। ज्ञान युक्त सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से यह समय अत्यन्त कष्टप्रद था।

(२) चरवाहा जीवन—आखेट जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन मुख्य रूप से जानवर पालने की प्रथा के कारण हुआ और इसी कारण से चरवाहा जीवन का समारम्भ हुआ। अब समाज का आकार बढ़ने लगा दलों का विस्तार वंश एवं जातियों में होने लगा, क्योंकि खाद्य समस्या अब पहले जैसी विकट न रहकर, पशु-पालन की प्रथा द्वारा अत्यन्त सरल हो गई थी। इस समय अनेक पत्नी प्रथा की संस्था का विकास हो रहा था और विवाह के द्वारा परिवार की संस्था जम रही थी, जिसमें पिता उसकी पत्नी सन्तान, सन्तान की सन्तान (विशेष रूप से केवल पुत्र तथा पुत्र बधुएं और उनकी सन्तान) सम्मिलित होती थी। परिवार के अध्यक्ष को अपने सदस्यों के जीवन तक पर पूर्ण अधिकार होता था। अनेक परिवारों से वंश तथा जातियाँ बनकर बड़े समूह स्थापित होते थे इस प्रकार समाज का संगठन रक्त सम्बन्ध पर आधारित था। इनका मुख्य व्यवसाय पशु पालन होता था, इसलिए चरागाहों की सुरक्षा और अधिकार बहुत प्रधान समझा जाता था। आखेट जीवन की अपेक्षा इस जीवन में सुरक्षा अधिक थी किन्तु फिर भी ये एक स्थान पर स्थायी निवास नहीं कर सकते थे। एक स्थान का चरागाह सूख जाने पर या समाप्त हो

सीखा था, नदियों के किनारे बसने की उपयोगिता समझी परस्पर सहयोग से काम करने की भावना उत्पन्न हुई। इसके पश्चात् से मानव के विकास का इतिहास लगभग सत्य प्रमाणों पर ही आधारित है।

साधारण रूप से मानव सभ्यता का इतिहास दो भागों में अध्ययन किया जाता है। प्रथम, लेखनकला व लिपि के आविष्कार और प्रचलन से पूर्व का प्रागैतिहासिक युग, जिसमें पाषाण युग ताम्र युग कांस्य युग तथा लौहयुग भी सम्मिलित हैं और दूसरा ऐतिहासिक युग जो उक्त सरल तथा लिपि के प्रचलन के पश्चात् प्रारम्भ होता है। इस प्रकार उपरोक्त अनेक श्रेणियों से होकर मानव का विकास हुआ है। यदि हम जीव के विकास का प्रारम्भिक क्रम छोड़ दें तो मानव का विकास मुख्य चार श्रेणियों में माना जा सकता है। (१) अर्द्ध मानव (२) मानव (३) प्राचीन मानव तथा (४) वर्तमान मानव।

(१) अर्द्ध-मानव—यदि मानव को हम बन्दर की सन्तान न भी मानें तो भी इस समय मनुष्य बन्दर से मिलता जुलता तो था ही यह अर्द्ध मानव भूमि पर निवास करता था, अपने पैरों के बल पर ही चलता था, परन्तु उसकी बुद्धि विकसित नहीं थी। उसमें सोचने की शक्ति नहीं थी। इसलिए अधिक कार्य नहीं कर सकता था। फिर भी अपने हित को समझता था यह अर्द्ध मानव था।

(२) मानव—इस अवस्था में मनुष्य ने अपना निवास सुरक्षित स्थान में करना सीखा आहार प्राप्त करना तथा संग्रह करना सीखा और अनेक प्रकार के साधन जीवन को सुखी बनाने के लिए जुटाने लगा। यह मानव की वन्य अवस्था थी जब अन्य प्राणियों की अपेक्षा यह एक चतुर प्राणी बन गया था।

(३) प्राचीन मानव—यह मानव की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था थी। इस समय मानव को अग्नि का ज्ञान था और अनेक साधनों से अपर्याप्त स्थान पर पत्थर की रगड़ आदि से अग्नि उत्पन्न कर पत्ते पत्तियाँ जलाकर उसका उपयोग करता था। शरीर रक्षा के हेतु पशु के पत्ते तथा चमड़े का प्रयोग भी प्रारम्भ कर दिया था। बोलने तथा अपनी भावाभिव्यक्ति की कला भी वह सीखने लगा था परन्तु फिर भी अभी पूर्ण विकसित नहीं था।

(४) वर्तमान मानव—किस समय से यह मानव अस्तित्व में आया इसका ठीक प्रमाण तो आज भी उपलब्ध नहीं है, किन्तु अनुमान से लगभग २५ हजार वर्ष पूर्व से वर्तमान मानव के विकास का समय आँका जाता है। आधुनिक सभ्यता के युग की विभिन्न विशेषताओं का क्रमिक विकास इसी मानव के मस्तिष्क की उपज है। अन्य समस्त प्राणियों पर इसी बुद्धि के बल पर वर्तमान मानव का पूर्ण अधिकार स्थापित है।

प्राचीन समाज (Primitive Societies)—वैसे तो समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई सिद्धान्त प्रचारित रहे हैं जिनके द्वारा भिन्न भिन्न विद्वान समाज की रचना अलग अलग साधनों अथवा कारणों से मानते हैं जैसे दैवी सिद्धान्त सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त प्रवृत्ति सिद्धान्त (Instinct Theory) तथा विकास सिद्धान्त।

आजकल केवल विकास सिद्धांत को ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। यहाँ हम इसी सिद्धांत का अध्ययन करेंगे।

मानव जीवन के आरम्भ से ही समाज की रचना निरन्तर विकास के फलस्वरूप हुई है यह स्वीकार किया जाता है। इस विकास की निम्नलिखित चार प्रमुख श्रेणियाँ मानी जाती हैं —

(१) आखेट जीवन, (२) चरवाहा जीवन, (३) कृषक-जीवन तथा (४) औद्योगिक जीवन।

(१) आखेट जीवन—मानव समाज के विकास का प्रथम सोपान आखेटमय जीवन था। इस समय मनुष्य अपने छोटे छोटे संगठित दलों में रहता था। ये दल फल एकत्रित करते थे और जानवरों का शिकार करते थे और दल के सभी सदस्य भोजन प्राप्ति की आवश्यकता के कारण ही साथ रहते थे। संगठन सरल था। जो कुछ मिलकर प्राप्त करते थे, उसका बटवारा समान रूप से कर लिया जाता था। उस समय कोई शासक, सरकार, सम्पत्ति, नियम अथवा विधान समायें नहीं थीं। यहाँ तक कि पारिवारिक जीवन का भी कोई रूप विकसित नहीं हुआ था। संकट काल के लिए खाद्य सामग्री एकत्रित करके रखने की प्रवृत्ति भी जाग्रत नहीं थी। जो कुछ मिल जाता था या प्राप्त करते थे उसे समाप्त कर देते थे। संसार उन्हें भयावह (संकटमय) लगता था। कभी कभी अकाल महामारी आदि भी उन्हें सताती थीं। जीवन के श्रेय और प्रेम पक्ष पर विचार करने का समय उन्हें नहीं मिलता था। विभिन्न दलों में विभिन्न नियम एवं परम्परायें थीं सामान्य नियमों का अस्तित्व नहीं था। अपने दल के सदस्यों को व्यक्तिगत रूप में अधिकारों की स्वीकृति नहीं थी। मानव युग सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से यह समय अत्यन्त कष्टप्रद था।

(२) चरवाहा जीवन—आखेट जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन मुख्य रूप से जानवर पालने की प्रथा के कारण हुआ और इसी कारण से चरवाहा जीवन का समारम्भ हुआ। अब समाज का आकार बढ़ने लगा दलों का विस्तार वंश एवं जातियों में होने लगा क्योंकि खाद्य समस्या अब पहले जैसी विकट न रहकर, पशुपालन की प्रथा द्वारा अत्यंत सरल हो गई थी। इस समय अनेक पत्नी प्रथा की संस्था का विकास हो रहा था और विवाह के द्वारा परिवार की संस्था जम रही थी, जिसमें पिता, उसकी पत्नी, सन्तान, सन्तान की संतान (विशेष रूप से केवल पुत्र तथा पुत्र बधुएँ और उनकी संतान) सम्मिलित होती थी। परिवार के अध्यक्ष को अपने सदस्यों के जीवन तक पर पूर्ण अधिकार होता था। अनेक परिवारों से वंश तथा जातियाँ बनकर बड़े समूह स्थापित होते थे इस प्रकार समाज का संगठन रक्त सम्बन्ध पर आधारित था। इनका मुख्य व्यवसाय पशु पालन होता था, इसलिए चरागाहों की सुरक्षा और अधिकार बहुत प्रधान समझा जाता था। आखेट जीवन की अपेक्षा इस जीवन में सुरक्षा अधिक थी किन्तु फिर भी ये एक स्थान पर स्थायी निवास नहीं कर सकते थे। एक स्थान का चरागाह सूख जाने पर या समाप्त हो

सीखा था, नदियों के किनारे बसने की उपयोगिता सम्बन्धी परस्पर सहयोग से कार्य करने की भावना उत्पन्न हुई। इसके पश्चात से मानव के विकास का इतिहास लगभग सत्य प्रमाणों पर ही आधारित है।

साधारण रूप में मानव सभ्यता का इतिहास दो भागों में अध्ययन किया जाता है। प्रथम लेखनकला व लिपि के आविष्कार और प्रचलन से पूर्व का प्रागैतिहासिक युग, जिसमें पाषाण युग, ताम्र युग, कांस्य युग तथा लौहयुग भी सम्मिलित हैं और दूसरा ऐतिहासिक युग जो उक्त लेखन तथा लिपि के प्रचलन के पश्चात आरम्भ होता है। इस प्रकार उपरोक्त मानव श्रेणियों में होकर मानव का विकास हुआ है। यदि हम जीव के विकास का प्रारम्भिक क्रम छोड़ दें तो मानव का विकास मुख्य चार श्रेणियों में माना जा सकता है। (१) अर्द्ध मानव (२) मानव (३) प्राचीन मानव तथा (४) वर्तमान मानव।

(१) अर्द्ध-मानव—यदि मानव को हम बन्दर की सन्तान न भी मानें तो भी इस समय मनुष्य बन्दर से मिलता जुलता तो था ही। यह अर्द्ध-मानव भूमि पर निवास करता था, अपने पैरों के बल पर ही चलता था, परन्तु उसकी बुद्धि विकसित नहीं थी। उसमें सोचने की शक्ति नहीं थी। मस्तिष्क अधिक काम नहीं कर सकता था। फिर भी अपने हित को समझता था। यह अर्द्ध मानव था।

(२) मानव—इस अवस्था में मनुष्य ने अपना निवास सुरक्षित स्थान में करना सीखा। आहार प्राप्त करना तथा संग्रह करना सीखा और अनेक प्रकार के साधन जीवन को सुखी बनाने के लिए जुटाने लगा। यह मानव की वह अवस्था थी जब अन्य प्राणियों की अपेक्षा वह एक चतुर प्राणी बन गया था।

(३) प्राचीन मानव—यह मानव की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था थी। इस समय मानव को अग्नि का ज्ञान था और अनेक साधनों से अपरिचित स्थान पर पत्थर की रगड़ आदि से अग्नि उत्पन्न कर पशु पक्षियों को मारकर उसका उपयोग करता था। शरीर रक्षा के हेतु पशु के पत्ते तथा चमड़े का प्रयोग भी आरम्भ कर दिया था। बोलने तथा अपनी भावाभिव्यक्ति की कला भी वह सीखने लगा था परन्तु फिर भी अभी पूर्ण विकसित नहीं था।

(४) वर्तमान मानव—जिस समय से यह मानव अस्तित्व में आया उसका ठीक प्रमाण तो आज भी उपलब्ध नहीं है, किन्तु अनुमान से लगभग २५ हजार वर्ष पूर्व से वर्तमान मानव के विकास का समय माना जाता है। आधुनिक सभ्यता के युग की विभिन्न विशेषताओं का क्रमिक विकास इसी मानव के मस्तिष्क की उपज है। अन्य समस्त प्राणियों पर इसी बुद्धि के बल पर वर्तमान मानव का पूर्ण अधिकार स्थापित है।

प्राचीन समाज (Primitive Societies)—वैसे तो समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई सिद्धान्त प्रचारित हैं जिनके द्वारा भिन्न भिन्न विद्वान समाज की रचना अलग अलग कारणों से मानते हैं जैसे दैवी सिद्धान्त सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त प्रवृत्ति सिद्धान्त (Instinct Theory) तथा विकास सिद्धान्त।

आजकल केवल विकास सिद्धान्त को ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। यहाँ हम इसी सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे।

मानव जीवन के आरम्भ से ही समाज की रचना निरन्तर विकास के फलस्वरूप हुई है यह स्वीकार किया जाता है। इस विकास की निम्नलिखित चार प्रमुख श्रेणियाँ मानी जाती हैं —

(१) आखेट जीवन, (२) चरवाहा जीवन, (३) कृषक-जीवन तथा (४) औद्योगिक जीवन।

(१) आखेट-जीवन—मानव समाज के विकास का प्रथम सोपान आखेटमय जीवन था। इस समय मनुष्य अपने छोटे छोटे संगठित दलों में रहता था। ये दल फल एकत्रित करते थे और जानवरों का शिकार करते थे और दल के सभी सदस्य भोजन प्राप्ति की आवश्यकता के कारण ही साथ रहते थे। संगठन सरल था। जो कुछ मिलकर प्राप्त करते थे उसका बटवारा समान रूप से कर लिया जाता था। उस समय कोई शासक, सरदार, सम्पत्ति, नियम अथवा विधान संस्थायें नहीं थी। यहाँ तक कि पारिवारिक जीवन का भी कोई रूप विकसित नहीं हुआ था। संकट काल के लिये खाद्य सामग्री एकत्रित करके रखने की प्रवृत्ति भी जाग्रत नहीं थी। जो कुछ मिल जाता था या प्राप्त करते थे उसे समाप्त कर देते थे। संसार उन्हें भयावह (संकटमय) लगता था। कभी कभी अकाल महामारी आदि भी उन्हें सताती थी। जीवन के श्रेय और प्रेम पक्ष पर विचार करने का समय उन्हें नहीं मिलता था। विभिन्न दलों में विभिन्न नियम एवं परम्परायें थीं सामान्य नियमों का अस्तित्व नहीं था। अपने दल के सदस्यों को व्यक्तिगत रूप में अधिकारों की स्वीकृति नहीं थी। ज्ञान सुख सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से यह समय अत्यन्त कष्टप्रद था।

(२) चरवाहा जीवन—आखेट जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन मुख्य रूप से जानवर पालने की प्रथा के कारण हुआ और इसी कारण से चरवाहा जीवन का समारंभ हुआ। अब समाज का आकार बढ़ने लगा दलों का विस्तार वंश एवं जातियों में होने लगा क्योंकि खाद्य समस्या अब पहले जैसी विकट न रहकर, पशुपालन की प्रथा द्वारा अत्यन्त सरल हो गई थी। इस समय अनेक पत्नी प्रथा की संस्था का विकास हो रहा था और विवाह के द्वारा परिवार की संस्था जम रही थी, जिसमें पिता उसकी पत्नी सन्तान, संतान की संतान (विशेष रूप से केवल पुत्र तथा पुत्र वधुएँ और उनकी संतान) सम्मिलित होती थीं। परिवार के अध्यक्ष को अपने सदस्यों के जीवन तक पर पूर्ण अधिकार होता था। अनेक परिवारों से वंश तथा जातियाँ बनकर बड़े समूह स्थापित होते थे इस प्रकार समाज का संगठन रक्त सम्बन्ध पर आधारित था। इनका मुख्य व्यवसाय पशु पालन होता था, इसलिए चरागाहों की सुरक्षा और अधिकार बहुत प्रधान समझा जाता था। आखेट जीवन की अपेक्षा इस जीवन में सुरक्षा अधिक थी, किन्तु फिर भी ये एक स्थान पर स्थायी निवास नहीं कर सकते थे। एक स्थान का चरागाह सूख जाने पर या समाप्त हो

राजनतिक सगठन तथा समाज आदि सब चीजें आज समस्त ससार की एक ही रूप में होनी चाहिए ऐसे विचार और योजनायें चल रही हैं।

सामाजिक सस्थाओं की उत्पत्ति—मानव समाज तथा विभिन्न समुदायो का जीवन अनेक प्रकार की सस्थाओ तथा रीति रिवाज और परम्पराओ के प्रभाव से सचालित होता है। वतमान समाज का सगठन बहुत कठिन है। इसमे अनेक प्रकार के ऐसे समुदाय हैं जो विभिन्न क्षत्रा म विभिन्न प्रकार से क्रियाशील हैं। समाज के सगठन की व्याख्या करन स पूव कुछ सम्बधित शब्दा का अथ स्पष्ट रूप से समझना आवश्यक है। य निम्न हैं —

(१) समुदाय (Association) (२) क्षत्र (Community), (३) सस्था (Institution)।

समुदाय—मनुष्यो का ऐसा सगठित समूह होता है जो सामाय उद्दश्य क लिए काय करता है। इसम मनुष्यो की सदस्यता, केद्रीय सगठन तथा उद्दश्य की एकता आदि के तत्व होत हैं।

क्षेत्र—समाज का प्रत्यक ऐसा भाग जो अपने म पूण हो, जसे ग्राम, नगर, दश आदि वह क्षेत्र कहलाता है। जहा का जन-जीवन एकसा हो और नागरिको के जीवन म भी परस्पर गहरा सम्बध हो ऐसे स्थानो म एक सी परम्परा एक से रीति रिवाज, एकता की भावना आदि मुख्य विशेषताएँ विद्यमान होती हैं।

सस्था—मेक आइवर क शब्दा म सस्थायें मानव के पारस्परिक सम्बधो का स्थापित तथा स्वीकृत रूप हैं। वे परम्परा प्रथा परिपाटी अथवा रीति रिवाज के रूप में रहती है और सामाजिक जीवन के स्थायी सगठन का अग होती हैं। इनकी स्थापना किसी समुदाय के द्वारा की जा सकती है जसे परिवार के द्वारा विवाह राज्य या क्षेत्र द्वारा नियम आदि की स्थापना होती है। विवाह नियम दण्ड, जाति प्रथा छूआछूत अनिवाय वधव्य आदि इसी अथ म सस्थायें हैं। इस प्रकार सस्था केवल सामाजिक सम्बधो का एक रूप है जबकि समुदाय है एक जन-समूह।

अत हम कह सकत हं कि आधुनिक समाज उन क्षत्रा एव समुदायो से युक्त है जिनका जीवन सचालन सस्थाओ द्वारा किया जाता है।

इन सस्थाओ का नवीन रूप से स्थापित भी किया जा सकता है अथवा अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिए समुदाय इहें समाज से प्रस्तुत रूप म भी अपना सकता है। वतमान समय म इन सस्थाओ की सख्या अनगिनती हो रही है अत सबका वणन न सम्भव है और न आवश्यक। यहाँ केवल इतना समझना आवश्यक है कि इनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज की अनुपस्थिति मे वह अपना विकास तो कर ही नहीं सकता, साथ ही वह सतुलित मानव भी नही रह सकता। अनेक दशो में इस प्रकार के प्रयोग करक देख गय है जब मानव शिशु को समाज से पृथक रक्खा गया और वह अपनी किसी भी शक्ति, जैसे सुनना, बोलना सूघना आदि का विकास नही कर पाया। यह भी स्वीकार किया जाता है कि एकात कारावास का

दण्ड भी कठोरतम माना जाता है। अतः मानव का समूह बनाकर समाज में रहना अत्यन्त स्वाभाविक होता है। एक समूह में रहने के कारण उन सब सदस्यों के आचार विचार, रहन-सहन एवं परम्पराओं आदि में साम्य आ जाता है और उन्हें मान्यता मिल जाने से मानव जीवन बहुत सुविधाजनक तथा सरल बन जाता है। समाज की अनेक कठिनाइयों को दूर करने का सर्वोच्च साधन इन्हीं संस्थाओं को माना जाता है। इसलिए यह सच है कि समाज में संस्थाओं का जन्म समाज की सेवा के लिए हुआ है। इसके अतिरिक्त संस्थाओं को समय के अनुकूल परिवर्तित भी होते रहना चाहिए। प्रत्येक संस्था इसलिए अच्छी नहीं समझी जानी चाहिये कि वह प्राचीन काल से विद्यमान है, वरन् आवश्यकतानुसार नई भी उत्पन्न होती रहें और उपयोगिता न रहने पर उनका नाश होते रहना भी अनिवार्य है। इस प्रकार संस्थाओं का जन्म मानव समाज की सेवा के लिए निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हुआ है।

संस्थाओं की विशेषताएँ—यद्यपि संस्थाओं को उपयोगी न रहने पर उन्हें लुप्त हो जाना चाहिए तथापि कोई संस्था समय पर समाप्त नहीं होती वह अपना अस्तित्व बनाए रखना चाहती है। धीरे धीरे इन संस्थाओं में निहित स्वार्थ उत्पन्न हो जाते हैं जिनकी पूर्ति के लिए इन संस्थाओं की विद्यमानता अनिवार्य होता है। ऐसे लोग फिर संस्थाओं को दृढ़ बनाए रखना चाहते हैं और उनके उन्मूलन का घोर विरोध करते हैं। कुछ व्यक्ति इन प्राचीन संस्थाओं को जीवन का अन्तिम अंग ही समझ लेते हैं। परन्तु ऐसी संस्थाओं का प्रभाव मानव के कल्याण और सुख पर बहुत घातक सिद्ध होता है। इसलिए नवीन परिस्थितियों के अनुसार समाज की समस्त संस्थाओं का समय-समय पर पुनर्गठन एवं पुनः मूल्यांकन होना अनिवार्य है।

संस्था (Institution)—शब्द बहुत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ परिवार, विवाह, शिक्षा, जाति, राज्य, सम्पत्ति आदि सभी संस्थाएँ हैं। परन्तु यह समुदाय, राष्ट्र, दल तथा राज्य से भिन्न हैं। यद्यपि साधारण व्यक्तियों के लिए इन उपरोक्त सभी के लिए संस्था शब्द का प्रयोग किया जा सकता है तथापि वास्तव में इनमें भेद है। जैसे स्कूल, कालेज आदि भी संस्थाएँ कहलाते हैं परन्तु वास्तव में ये समुदाय हैं। समुदाय एक साकार संगठन होता है जबकि संस्था मनुष्यों के सम्बन्धों को संचालित करने का एक प्रमुख साधन है। समुदाय की संस्थापना होती है संस्था की नहीं। संस्था केवल मार्ग प्रदर्शन करती है। संस्थाएँ समुदायों द्वारा आवश्यकतानुसार निर्धारित की जाती हैं, जैसे परिवार द्वारा विवाह की संस्था स्वीकार की गई है। अतः संस्था केवल सम्बन्धों का स्वीकृत स्वरूप ही माना गया है।

विभिन्न संस्थाएँ (१) शिक्षा—राष्ट्र के चरित्र निर्माण के हेतु उचित शिक्षा की महत्ता और आवश्यकता आज समस्त विश्व में स्वीकार की जाती है। व्यक्तिगत जीवन-स्तर उन्नत, चतुर एवं बुद्धिमान नागरिक उत्पन्न करने, नागरिकता का प्रशिक्षण देने तथा घर और समाज के सम्बन्ध मधुर बनाने के लिए शिक्षा से बढ़कर

कोई सफल साधन व सस्था नही है। विशेषत आज के लोकतान्त्रिक युग म इस सस्था का महत्व अधिक है। शिक्षा म सामाजीकरण की वडी भारी शक्ति होती है। इसके द्वारा मानव अपनी प्रवृत्तिया का नियत्रण करता हुआ अपनी तुच्छ भावनाग्रा को अनुशासित करता है। इसके सहारे मानव अपने जीवन के आर्थिक सघष पर विजय प्राप्त करता है। अत शिक्षा मानव समाज की सदैव ही शुभ सस्था रही है।

(२) सम्पत्ति—सामाजिक जीवन मे सम्पत्ति की सस्था भी महत्त्वपूण है। इसकी उत्पत्ति मनुष्य की आवश्यकताग्रा के कारण हुई है। यह मनुष्य की कई प्रवृत्तिया एव धारणाओ को सतुष्ट करती है और उसके विकास म अनेक प्रकार से सहायक होती है। इसका स्वरूप समयानुसार वदलता रहता है। निजी सम्पत्ति जन सम्पत्ति भूमि, भवन आदि का महत्व और स्वरूप भी परिवतनशील रहता है। यह सस्था अति प्राचीन है। कुछ लोगा का मत है कि सम्पत्ति का ज म राज्य से भी पहले हुआ था और यह सत्य प्रतीत होता है। सम्पत्ति से मानव को सुरक्षा और स्वत त्रता अनुभव होती है, उसके चरित्र विकास म सहायता मिलती है उसम उदारता और सत्कार वत्ति जाग्रत होती है तथा काय करने की प्रेरणा मे सहायता मिलती है। इसस कुछ हानियाँ भी हैं जसे समाज म शोषण, भूख और निधनता को स्थायी बनाती है, धनवान अधिक धनवान और निधन अधिक निधन बनते जाते हैं, आदि।

(३) दण्ड—यह सस्था भी सामाजिक जीवन का अभिन्न भाग है। राज्य, शिक्षा और दण्ड दो सस्थाम्रा द्वारा ही समाज मे व्यवस्था स्थापित करता है और राज्य के नियमा का पालन सम्भव बनाता है। दण्ड साधारण श ा म वह पद्धति है जिसके द्वारा सामाजिक अव्यवस्था करने वाले व्यक्ति के अधिकार इस प्रकार छीन लिए जाते हैं कि अपराधी को भी कष्ट न हो। दण्ड का उद्देश्य मानव अधिकारा की अवहेलना को रोकना होता है। इसके अनेक सिद्धा त हैं जसे प्रतिशोधात्मक निषधात्मक तथा सुधारात्मक सिद्धा त। आजकल सुधारवादी सिद्धा त पर ही अधिक बल दिया जाता है।

(४) परिवार तथा विवाह—मानव समाज म यह सस्था बहुत महत्वपूण है। कुछ विद्वान तो यहा तक कहते हैं कि परिवार ही बढकर धीरे धीरे जाति, वश और रा य के रूप म बदल गए। वास्तव मे परिवार वह सस्था है जिसम पुरुष और स्त्री के सम्ब ध समाज द्वारा मा यता प्राप्त करते हैं। इसकी सहायक दूसरी सस्था विवाह है। विवाह के रूप प्राचीन काल से ही अनेक रहे हैं और समय तथा स्थिति के अनुसार वे बदलत भी रहे हैं। अनुलाम और प्रतिलोम विवाहा का हिदू शास्त्रा म बहुत वणन है। साथ ही राक्षस विवाह, गाधव विवाह आदि का भी प्रसग बडा रोचक है। मुसलमाना म इसका रूप 'मुता विवाह' और 'तलाक' के कारण अधिक महत्व का है। वत्तमान समय म भी विवाहो का स्वरूप बदल रहा है। यायालयो मे जाकर विवाह करने की प्रथा पश्चिमी देशा से अपनायी गई है और प्राचीन रूप जिसके अनुसार विवाह एक ज म जमान्तर तक के पुरुष और स्त्री के

व्यवस्था का संस्कार माना जाता था नष्ट प्राय हो गया है। पुत्र को दत्तक [illegible] पति तथा पत्नी [illegible] का [illegible] पड़ गई है और बहुविवाह प्रथा का स्थान [illegible] ले लिया है। [illegible] प्रचलित था। [illegible] प्रचलित था।

परिवार—इस संस्था का प्रथम प्रादुर्भाव कब हुआ, यह बताना कठिन का विषय है। कोई प्रमाण प्राप्य नहीं है। फिर भी इसके दो प्रकार इस प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। एक तो पितृ प्रधान परिवार और दूसरा मातृ प्रधान परिवार। जहाँ पिता परिवार का प्रधान होता था वहाँ पितृ प्रधान परिवार होता था। यही व्यवस्था अधिक [illegible] है। दूसरे प्रकार के परिवार का प्रधान माता [illegible] होती थी। [illegible] और [illegible] दोनों प्रकार के परिवारों के उदाहरण मिलते हैं। वर्तमान समय में एक और [illegible] प्रचलित रहा है वह है संयुक्त परिवार पद्धति किन्तु पाश्चात्य [illegible] के प्रभाव में अब धीरे धीरे यह प्रथा नष्ट होती जा रही है।

सामाजिक विकास के कारण—यह स्वीकार कर लेने पर कि समाज मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता है, समाज के विकास में किन तत्वों और कारणों का योग रहा है जानना आवश्यक हो जाता है। मानव आवश्यकताएँ [illegible] ही उस समाज को जीवनदान देती हैं। समाज के द्वारा मनुष्य शारीरिक तृप्ति तथा मानसिक तुष्टि प्राप्त करता है अतः समाज का विकास मनुष्य के हित के लिए होता है। निम्नलिखित प्रमुख कारणों तथा तत्वों की सहायता से समाज का विकास होता है —

(१) भोजन की आवश्यकता—मनुष्य जीवन निर्वाह के लिए प्रत्येक व्यक्ति को भोजन की आवश्यकता होती है। प्रारम्भ में तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं ही करता था किन्तु समाज के विकास के कारण परस्पर सहयोग अनिवार्य हो गया और इसी कारण समाज के सदस्यों में [illegible] के कारण अन्य सम्बन्ध स्थापित हुए और परस्पर सहयोग की भावना उत्पन्न हुई और भोजन के लिए समाज का अस्तित्व बन गई। यह सहकारिता की भावना आज भी [illegible] में और भी व्यापक बन रही है जहाँ समाज के अधिकांश कार्य परस्पर सहयोग के आधार पर ही होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक समाज के विकास में भोजन की आवश्यकता का हाथ रहा है।

(२) जीवन रक्षा—यद्यपि भोजन की प्राप्ति से भी जीवन की रक्षा हो जाती है किन्तु जीवन पर होने वाले अचानक आघातों से रक्षा करने की भी आवश्यकता होती है। जंगली जानवरों का शिकार होने से बचना तथा [illegible] से जीवन की रक्षा करना आदि यह समाज में ही सम्भव है। पशु पक्षियों तक में भी जीवन रक्षा के हेतु [illegible] समूह संगठित रहता है। [illegible] गाय अथवा भैंसों के समूह में से सिंह किसी एक को पकड़ कर ले जाने में सफल नहीं होता।

इसी प्रकार मानव समाज के विकास में भी जीवन रक्षा का कारण बहुत सहायक हुआ है।

(३) निवास की आवश्यकता—मनुष्य ऐसा स्थान भी चाहता है जहाँ वह निश्चिन्ततापूर्वक आराम कर सके। किसी का भय भी न हो, किसी के आश्रित न हो और कोई उसे पीड़ित भी न कर सके। प्रारम्भ में असभ्य होने के कारण गुफा एवं कन्दराओं तथा वृक्षों पर निवास करता था परन्तु फिर भी अति बरसात, अति सर्दी तथा अत्यन्त गर्मी उसे कष्ट देती थी। धीरे धीरे सभ्यता के कारण उसने गृह निर्माण करना सीखी और इसके द्वारा समाज का बहुत विकास हुआ। आज बीसवीं सदी में भवन निर्माण का जितना कार्य हो रहा है वह नवीन सभ्यता का प्रतीक है।

(४) अन्य तत्व—उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त कुछ और तत्व भी सामाजिक विकास में सहायक हुए हैं। इनमें रक्त सम्बन्ध धर्म तथा सामाजिक प्रवृत्तियाँ मुख्य हैं।

रक्त सम्बन्ध व समाज का बहुत गहरा बन्धन समझा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के जन्म से लेकर उसका पालन, शिक्षा, विवाह, व्यवसाय पारिवारिक सम्बन्ध तथा देहावसान और उसके पश्चात उसकी पारिवारिक शृंखला में सन्तान की उन्नति आदि मख्य घटनायें हैं और ये सम्बन्ध प्रगाढ़ होते हैं। 'रक्त जल की अपेक्षा अधिक गाढ़ा होता है' प्राचीन कहावत है। इसी आधार पर परिवार, वंश, जाति और कुल बनते रहे हैं।

धर्म ने सामाजिक विकास में बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसके द्वारा मनुष्य अपने गूढ़ प्रश्नों का हल प्राप्त करता है और मनुष्य में विश्वास करना सीखता है। बीसवीं सदी में भी धर्म मनुष्य के लिए शक्तिशाली तत्व स्वीकार किया जाता है। पाकिस्तान की रचना इसका प्रमुख उदाहरण है, तो प्रारम्भ में धर्म की मान्यता से पवित्र समाज बनाने में बहुत सहायता मिली होगी इसमें सन्देह नहीं है।

अन्तिम तत्व सामाजिक प्रवृत्तियों का है। जब तक मनुष्य की ये प्रवृत्तियां सतुष्ट नहीं होती वह आनन्द का अनुभव नहीं करता। इसलिए समाज से वह सम्मान और मान्यता लेने के लिए प्रयत्न करता हुआ अपनी ऐसी प्रवृत्तियों को सतुष्ट करता है। विवाह की प्रथा, प्रीतिभोज की पद्धतियाँ ऐसे ही कुछ उदाहरण हैं जिनसे समाज के विकास में बहुत योग मिला है और जो समाज की प्रधान परम्पराओं के रूप में आज भी विद्यमान हैं।

कुछ लोगों का मत है कि सामाजिक उन्नति में प्रमुख सहायक तत्व निम्न तीन होने चाहियें —(१) वंशानुक्रम तथा वातावरण, (२) भौगोलिक स्थिति तथा (३) प्राणी शास्त्रीय सिद्धान्त। किन्तु यह ठीक नहीं ज्ञात होता। समाज के जीवन पर इन तत्वों का प्रभाव तो हो सकता है किन्तु ये विकास के कारण नहीं बन सकते, अतः इन्हें गौण रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

समाज में प्रौद्योगिकी का महत्व (Role of Technology)—प्रौद्योगिकीय

रहा है मन्दिर, पहुँचाते हैं। इस सभ्यता का विकास कब हुआ इसका कोई निश्चित प्रमाण तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु है यह सभ्यता अति प्राचीन। कुछ इतिहासकार इस सभ्यता को दस हजार वर्ष प्राचीन मानते हैं। ईसा से ४००० वर्ष पूर्व के तो निश्चित प्रमाण भी मिलते हैं। अन्य सभ्यताओं की भाँति यहाँ के लोग भी प्रकृति पूजक थे। नील नदी को वे पूज्य मानते थे और उसकी पूजा में विशाल मन्दिर बनाते थे। इस रूप में वे भारतीय सभ्यता के निकट थे। भारत में भी गंगाजी को परम पवित्र और पापनाशिनी समझा जाता है और भारतीयों का इसके प्रति गहन श्रद्धा रही है। इस प्रकार मिस्र की सभ्यता भी पर्याप्त रूप में धर्म प्रधान रही है।

शासन व्यवस्था—प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल से लेकर सिकन्दर महान के आगमन तक मिस्र में कुल मिलाकर ३१ वंशों ने राज्य किया था। इनमें चौथा तथा बारहवाँ वंश शासक बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। उन्होंने धन धान्य का प्रसार बढ़ाया और कला प्रदर्शन के हेतु विश्वविख्यात पिरामिड जो आज भी संसार के प्रमुख आश्चर्यों में गिने जाते हैं। इसी के कारण यह समय ही पिरामिड काल कहलाता है। बाद में कुछ निर्बल शासकों का युग चला और मिस्र की अराजकता का यह समय कहलाता रहा। इस स्वरूप सामन्त प्रथा का आरम्भ हुआ। किन्तु स्वतन्त्रता का आदर करती हुई जनता सामन्तवाद को नहीं सहन कर सकी और फिर स्वतन्त्र हुई। तत्पश्चात् मिस्र साम्राज्यवाद का प्रसार अग्रसर हुआ। इस समय मिस्र का शक्ति केन्द्र थीबिज था तथा पड़ोसी राज्यों पर इसका प्रभाव आतंक स्थापित हो गया था। इस समय मिस्र का शासक अमेनहोतेप था। तत्कालीन कुछ पत्रों की प्राप्ति से यह पुष्टि होती है कि उस समय मिस्र की राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति अच्छी रूप में थी। इसके अतिरिक्त समाज में जनता की रुचि भी सम्मिलित था। आमेनहोतेप इस समय का प्रसिद्ध सम्राट था। अपनी विलक्षण प्रतिभा एवं शासन कौशल के कारण वह मिस्र के इतिहास में महत्वपूर्ण माना जाता है। उसने मिस्र को सभ्य सहनशील और ईमानदारी की शिक्षा दी। धार्मिक क्षेत्र में उचित और आवश्यक सुधार किये परन्तु उसकी मृत्यु के बाद ये सुधार समाप्त हो गये।

अन्त में साम्राज्यवाद का पतन भी आरम्भ हुआ। अफ्रीका तथा भूमध्यसागर के निवासियों ने मिस्र पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिए और इसे जीत लिया परन्तु मिस्र लगभग रहा कभी स्वतन्त्र और कभी परतन्त्र। अन्त में सिकन्दर महान् ने सन् ३३२ ई० पू० मिस्र को जीत लिया। फिर अंग्रेजों के अधीन रहकर १८ मार्च सन् १९२२ को इसे स्वतन्त्रता मिली और अब कर्नल नासिर की अध्यक्षता में वास्तविक स्वतन्त्र संघ की स्थापना हुई है। इस प्रकार प्रारम्भिक अवस्था में नगर राज्य स्थापित किये थे और मिस्र के निवासी अपने शासकों को देवता समझते थे। उनके जीवनकाल में पूजा तथा मृत्यु के बाद प्रतिमाओं की स्थापना की जाती थी। ये शासक स्वच्छन्द तो होते थे किन्तु शासन प्रबन्ध बड़ी योग्यता से करते थे। पर प्रधान मन्त्री होता था और न्याय सम्पादन उसका प्रमुख कार्य होता था। शासन की सुविधा के लिए राज्य कई भागों में विभाजित होता था। प्रत्येक भाग नाम

कहलाता था और उसका अधिपति 'नार्मार्चोस' कहलाता था।

ऐसी व्यवस्था होते हुए भी प्रजा के साथ व्यवहार अच्छा नहीं होता था। दास प्रथा के कारण नागरिकों का सम्मान नहीं था। वे उपज के रूप में ही कर देते थे। सिंचाई का प्रबन्ध अच्छा था और इसके लिए विशेष कर भी लगाया जाता था और यदि समय पर भुगतान नहीं होता था तो सिंचाई की व्यवस्था बन्द भी कर दी जाती थी। इस प्रकार शासन प्रबन्ध की व्यवस्था की गई थी।

सामाजिक व्यवस्था—मिस्र की सामाजिक व्यवस्था बहुत सरल थी। यद्यपि सम्राट और शासक वर्ग वैभवशाली था, तथापि साधारण जनता सन्तुष्ट नहीं थी। उन्हें बहुत सारे कर और शुल्क चुकाने पड़ते थे। बेगार प्रथा थी। दासों की स्थिति अति दयनीय थी। अन्य सभ्यताओं की भांति यहाँ भी समाज में श्रेणियाँ थीं। समाज में शासक का स्थान सर्वोपरि था। उसके पश्चात प्रथम श्रेणी में पुजारी वर्ग था जो धनी एवं बुद्धिजीवी होता था। दूसरी श्रेणी में सामन्त वर्ग था जो शांति के समय शासक की सेवा तथा युद्ध के समय सहायता करता था। तीसरी श्रेणी में कृषक वर्ग था। इस वर्ग की संख्या अधिकतम थी। शिल्पकार वर्ग अपना अलग अस्तित्व रखता था और अंतिम था दास वर्ग। पारिवारिक संगठन मातृसत्तात्मक होने से और नारी का यथोचित सम्मान था। बहु विवाह प्रथा प्रचलित थी किन्तु केवल उच्च वर्गों में ही। स्त्री पुरुष में परस्पर स्निग्ध स्नेह होता था और विश्वास करते थे। भगिनी विवाह भी प्रचलित था, किन्तु रक्त शुद्ध रखने की दृष्टि से। महिलायें स्वतन्त्र रूप से सम्पत्ति की उत्तराधिकारी या स्वामिनी बन सकती थीं। तलाक की प्रथा भी थी किन्तु अल्पतम। अँगूठी, जंजीर, कुंडल आदि आभूषणों की प्रथा थी और समाज का मुख्य व्यवसाय कृषि, पशुपालन तथा शिल्प और हस्तकौशल था।

धर्म और दर्शन—मिस्र का धार्मिक जीवन भारतवर्ष की तरह का था। वहाँ अनेक देवी देवताओं की मान्यता थी और उनकी उपासना होती थी। कृषि प्रधान देश होने के कारण आकाश, पृथ्वी, पाताल आदि को पूजते थे इन सबके उनके यहाँ अलग अलग नाम थे जैसे पृथ्वी को 'हाथोर', आकाश को 'सिबु', चन्द्रमा को 'सिन' और सूर्य को 'होरस' कहते थे। वे पशुओं की भी उपासना करते थे। सांड एवं बकरे विशेष पूजनीय माने जाते थे। उनका मत था कि देवता पशुओं में निवास करते हैं। भारतवर्ष में देवताओं का सम्पर्क पशुओं से उनके वाहन के रूप में स्वीकार किया गया है। मिस्र के शासक वर्ग का जीवन भी धार्मिक सिद्धान्तों से नियन्त्रित होता था। वे भूमि का एक तिहाई मन्दिरों के लिए व्यय करते थे। देवालय अनेक होते थे और उनकी मान्यतायें भी पृथक होती थीं। एक सम्राट ने एकेश्वरवाद भी स्थापित किया था। मिस्र के निवासी आत्मा के आवागमन के सिद्धान्त (पुनर्जन्म) को भी मानते थे और मुक्ति में विश्वास करते थे। मृत शरीरों की वे बड़ी सुरक्षा करते थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने आश्चर्यजनक मसालों का आविष्कार भी किया था जिससे शव सदियों तक उसी रूप में रहते थे। शव के रखने का स्थान बहुत सुन्दर बनाते थे, दीवारों पर उसके जीवन की घटनाओं के चित्र तथा अन्य भोग-

विलास की सामग्री भी रखते थे। पत्थर की ऐसी सन्दूकें मिली हैं जिनमें हजारों वर्ष पुराने शव उसी रूप में रक्खे हैं। इन्हें 'ममी' कहते हैं।

कला-कौशल—मिस्र की सभ्यता कला के क्षेत्र में भी अग्रणी रही है। उन की स्थापत्यकला पर्याप्त रूप में विकसित हो चुकी थी। भवन मिट्टी एवं लकड़ी की सहायता से बनते थे, छतें भी लकड़ी तथा पत्थरों से बनाई जाती थीं। भवनों में उद्यान भी रक्खे जाते थे। खम्भों की प्रथा चल पड़ी थी। कारनाक का देवालय और तत्कालीन पिरामिड उस समय की वास्तुकला के जीवित उदाहरण हैं। आज भी यह अनुमान लगाना कठिन होता है कि उस प्राचीन युग में पिरामिड कैसे बनाए होंगे। एक पिरामिड की ऊंचाई ४५० फीट, एक भुजा की लम्बाई ७५० फीट है। लगभग ढाई-ढाई टन वजन के २३ लाख पत्थर के टुकड़े उनमें लगे हुए हैं। मूर्ति कला भी उस समय विकसित हो चुकी थी और यह माना जाता है कि उस समय संसार का कोई भी देश मिस्र की तुलना में खड़ा होने की क्षमता नहीं रखता था। तत्कालीन पक्षी, पशु और मानव की मूर्तियाँ आज भी सुरक्षित हैं। इनमें स्फिंक्स (sphinx) की मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रतिमा का शरीर सिंह का सा और सिर मानव का सा है। यह बहुत तेजस्वी प्रतीत होती है। यह एक सौ आठ फीट लम्बी और सत्तर फीट ऊँची है। इसका सिर तीस फीट लम्बा और लगभग चौदह फीट चौड़ा है। इसका निर्माण परिष्कृत मूर्तिकला के सिद्धान्तों के अनुसार हुआ है। कारनाक का देवालय भी कला सौन्दर्य और विशालता की दृष्टि से विश्व में अनूठा है। यह लगभग डेढ़ फर्लांग लम्बा है। इसकी कुर्सी ३३८ फीट लम्बी तथा १६० फीट चौड़ी है। इसमें खम्भों की सोलह पंक्तियाँ हैं जिनमें कुल १२६ खम्भे हैं। बीच के बारह खम्भों में प्रत्येक ७६ फीट लम्बा है और इसके ऊपर के सिर पर लगभग एक सौ आदमी सुविधापूर्वक स्थान ग्रहण कर सकते हैं। ऐसे यहाँ अनेक मंदिर हैं। उस समय इनकी शोभा अद्वितीय होगी। भारत और मिस्र में विशाल प्रतिमायें बनाने का युग बहुत समय तक रहा है। चित्रकला का आरम्भ भी हो गया था। देवालयों और पिरामिडों की भित्तियों पर चित्रकला के कुछ प्रमाण मिलते हैं। परन्तु ऐसा अनुमान है कि उस समय यह केवल वास्तुकला की सहायिका के रूप में ही रही होगी, स्वतन्त्र रूप में नहीं।

भाषा और साहित्य—भाषा के क्षेत्र में भी मिस्र की सभ्यता प्राचीनतम सिद्ध होती है। तत्कालीन प्राप्त लेखों से यह प्रमाणित होता है कि लगभग ५००० वर्ष ईसा से पूर्व भी मिस्र वालों को भाषा का ज्ञान था। सर्वप्रथम चित्र भाषा फिर चित्र लिपि के साथ विचार लिपि और अन्त में वर्ण लिपि का विकास हुआ था। फिर भी उन्हें स्वर ज्ञान नहीं था केवल चौबीस व्यंजनों की वर्णमाला का विकास हुआ था।

मिस्र की चित्र लिपि



इस प्रकार लेखन कला का आश्चर्यजनक आविष्कार सर्वप्रथम मिस्र में हुआ था। वे चित्रों, संकेतों और व्यंजनों की सहायता से अपने विचार व्यक्त करते थे। उनकी लेखन सामग्री में सरकण्डे की लेखनी, स्याही तथा पेपीरस कागज और दवात होती थी। पेपीरस कागज एक वृक्ष के तने को पतला काटकर विशेष ढंग से बनाया जाता था। इसलिए इसका नाम आज भी पेपर ही कहा जाता है। इंगलैंड के संग्रहालय में तत्कालीन प्राप्त कागजों के अवशेष विद्यमान हैं। इन्हीं साधनों की सुविधा से साहित्य की सर्वांगीण उन्नति सम्भव हुई थी। इतिहास, धर्मशास्त्र, गणित आदि विषयों पर बहुत खोज हुई थी और ठोस ज्ञान प्रकट हुआ था।

विज्ञान—इस क्षेत्र में भी मिस्र की सभ्यता बहुत आगे थी। शव की सुरक्षा के मसाले, पिरेमिडों की रचना, कागज, स्याही, कलम आदि का आविष्कार तथा गणित जैसे गम्भीर विषयों का अध्ययन उनकी वैज्ञानिक सूझ बूझ की गहराई के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। गणित के साथ ज्योतिष का और तदनुसार प्रथम पंचांग की रचना इन्हीं के द्वारा हुई। एक वर्ष में ३६५ दिन १२ मास और प्रत्येक मास में ३० दिन की व्यवस्था भी मिस्र में ही पहले पहल हुई थी उस समय चिकित्सा के क्षेत्र में भी मिस्र अग्रणी था। इम्होटेप प्रसिद्ध चिकित्सक था और वहाँ ४८ प्रकार की शल्य चिकित्सा (Operations) प्रचलित थी। रेखागणित के साथ भूमि का नाप तौल भी आरम्भ हुआ किन्तु फिर भी उस समय तक दशमलव प्रणाली गुणा, भाग आदि से वे लोग अपरिचित ही थे।

इस प्रकार प्राचीन मिस्र की सभ्यता अत्यन्त उन्नत अवस्था पर पहुँच कर

विलीन हो गई। अपनी भावी सन्तान के लिए संस्कार अथवा सभ्यता के रूप में कुछ भी नहीं छोड़ सकी। प्राचीन कीर्ति गौरव तथा ऐश्वर्य के प्रमाण स्तूप, पिरामिड ममी तथा देवालय तो विद्यमान हैं किन्तु वर्तमान मिस्र के लिए उनका अमूल्य धन नहीं के समान है।

दजला फरात की घाटी की सभ्यता

नदी कालीन सभ्यताओं में इस घाटी की सभ्यताओं का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यह भी मिस्र की सभ्यता की भाँति अति प्राचीन हैं। इसी भाग में सुमेरियन बेबीलोन असीरिया और खाल्डियन सभ्यतायें एक के बाद एक क्रमशः विकसित हुई थीं। आजकल इस प्रदेश को इराक कहते हैं। यह भाग नदी के किनारे होने के कारण प्रारम्भ से ही बहुत उपजाऊ था इसीलिए सभ्यताओं का विकास हो सका।

सुमेरिया की सभ्यता

निप्पर जो इस सभ्यता का प्रमुख नगर था वहाँ पर प्राप्त खण्डहरों से पता चलता है कि इस सभ्यता का जन्म ई० पू० ६००० वर्ष में हो चुका था। ये लोग कहाँ से आए और कौन थे यह अभी तक स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। अनुमान है कि वे मध्य एशिया अथवा फारस की खाड़ी द्वारा भारत की ओर से यहाँ आए थे। इनकी सभ्यता बहुत प्राचीन तथा विकसित रही है और सम्भवतः इस क्षेत्र में उन्नतिशील भी रही थी।

राजनैतिक व्यवस्था—सुमेरियन बलिष्ठ तथा सुगठित होते थे और आकृति आकर्षक होती थी। इन्होंने कई नगर राज्य बसाए थे। और सब नगर राज्य एक ही साम्राज्य में अधीन थे। प्रत्येक नगर राज्य भीतरी शासन के लिए स्वतन्त्र होते थे और सम्भवतः पुरोहित वहाँ का शासक होता था। परन्तु बाद में इन्हीं नगर राज्यों के पारस्परिक वैमनस्य के कारण सुमेरियन साम्राज्य का ह्रास हुआ। फिर भी सभ्यता जीवित रही और बाद में बेबीलोन की सभ्यता का जन्म दिया। यहाँ की न्याय व्यवस्था सुगम थी किन्तु नियम कठिन थे। मन्दिरों में न्याय किया जाता था। शासक सर्वोच्च न्यायाधीश होता था और न्याय द्वारा स्वयं शासक भी बँधा हुआ होता था।

सामाजिक व्यवस्था—यहाँ के समाज में कई वर्ग होते थे परन्तु प्रमुख तीन वर्ग थे। अमीर गरीब का भेद बहुत था। पंडित और सैनिक का समाज में सम्मान था। वे उच्च वर्ग में माने जाते थे। दास प्रथा प्रचलित थी परन्तु वे प्रसन्न रहते थे। विवाह पद्धति मान्य हो गई थी और तत्सम्बन्धी अनेक नियम भी प्रचलित थे। दहेज भी प्रचलित था और वह स्त्री धन माना जाता था। स्त्री फिर भी पुरुष सम्पत्ति मानी जाती थी और पुरुष अपनी पत्नी को बेच भी सकता था। तलाक प्रथा थी किन्तु केवल बन्ध्या स्त्रियों के लिए सीमित थी। आचरणहीन पत्नी को प्राणदण्ड भी दिया जा सकता था। स्त्रियाँ सौंदर्य साधन के अनेक उपकरणों का

प्रयोग करती थीं।

यहाँ की भूमि उपजाऊ थी। इसलिये प्रमुख व्यवसाय कृषि ही था, इसमें भी प्रगति हुई थी। हलों में सुधार, बीज रखने का प्रबन्ध और सिंचाई आदि साधनों का पर्याप्त प्रचार हुआ था। बड़े-बड़े बाँध और नहरें बनवाई गई थीं। पशु पालन, मछली पकड़ना, वस्त्र बनाना, तथा अन्य उद्योग धन्धों का प्रचार भी था, किन्तु फिर भी समाज अनेक व्यवसाय होते हुए भी पूर्ण रूपेण समृद्ध नहीं था।

धार्मिक अवस्था—सुमेरियन लोग कई देवताओं को मानते थे। सूर्य (शमश), वायु (अनिल), आकाश (अनु), पृथ्वी (एनलिल) जल, कृषि, वनस्पति आदि सभी को वे देवता मानकर पूजा करते थे। भूत प्रेत में भी उनका विश्वास था। देवताओं को मानवीय रूप में ही मानते थे। उनकी सुन्दर मूर्तियाँ स्थापित करते थे। बलि का चलन था कभी कभी नर-बलि की व्यवस्था भी थी। वे लोग आत्मा को अमर मानते थे और मृतक के साथ उसकी प्रिय वस्तुओं को रखते थे। कभी कभी तो इसी कारण पत्नी या प्रेयसी को भी जीवित ही दफना देते थे। यह प्रथा अधिक प्रचलित नहीं थी।

साहित्य और कला—लेखन कला इस सभ्यता की प्रमुख विशेषता थी। सुमेरियन लोग मिट्टी की पट्टियों पर नुकीली कलमों से लिखते थे इसीलिये इसे कीलाक्षर या सूच्याकार लिपि का नाम दिया गया है। यह भी चित्र लिपि के आधार पर ही निर्मित हुई थी और अक्षर दायें से बायें की ओर लिखे जाते थे। पत्थर प्राप्य न होने से वास्तुकला में वे अधिक प्रगति नहीं कर सके किन्तु फिर भी भवन निर्माण में महराब, स्तम्भ, गुम्बज आदि का प्रचुर प्रयोग हुआ है। मूर्तिकला में भी वे निपुण थे। विशेष आवश्यकताओं के लिए पत्थर बाहर से मंगाते थे। नित्य काम पकी हुई ईंटों से करते थे। देवालयों की स्थापना में वे अपनी कला प्रदर्शित करते थे। साहित्यिक क्षेत्र में भाषा विधान गणित आदि के वे पारंगत थे। चन्द्रमा की विभिन्न कलाओं का अध्ययन कर इन्होंने भी पंचांग बनाया था और कई नवीन ग्रहों की खोज की थी। उनकी गणना ६० से आरम्भ होती थी। ६० सेकिण्ड का एक मिनट ६० मिनट का एक घण्टा आदि। अन्य सभ्यताओं को इस विज्ञान से बहुत लाभ हुआ।

महत्त्व—अति प्राचीन सभ्यता होते हुए भी आज यह सभ्यता अधिक प्रसिद्ध नहीं है परन्तु फिर भी लेखन कला, विज्ञान आदि इस सभ्यता की कुछ ऐसी अनुपम देन हैं जिसके कारण इसको भुलाया नहीं जा सकता।

बेबीलोन की सभ्यता

सुमेरिया की सभ्यता के विध्वंस पर हम्बू राबी ने बेबीलोन की सभ्यता को स्थापित किया। इसका समय २२०० ई० पू० से १३०० ई० पू० माना जाता है। हम्बू राबी बहुत ही कुशल और न्यायप्रिय शासक था। उसके समय में इस सभ्यता ने बहुत उन्नति की, किन्तु बाद में विलास और सुख के आधिक्य के कारण

नागरिकों में दुर्बलता छा गई। तब असीरिया के लोगों ने इन्हें परास्त कर अपना शासन स्थापित कर लिया।

राजनैतिक व्यवस्था—इस सभ्यता के समय अनेक शासक हुए, किन्तु स्पष्ट ज्ञान केवल हम्मूराबी के समय का ही मिलता है, औरों का प्रमाण उपलब्ध नहीं है। हम्मूराबी ने अपने शासन सम्बन्धी नियम अशोक की भाँति विशाल स्तम्भों पर अंकित करा दिए थे। शासन क्षेत्र में राजा ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था इसीलिए साधारण जनता उसकी आज्ञाओं का पालन करना अपना पुनीत कर्तव्य समझती थी। शासन की दृष्टि से साम्राज्य, प्रान्त, प्रदेश आदि भागों में विभक्त था। शासन विधान के रूप में एक 'विधि-संहिता' भी विद्यमान थी जिसमें लगभग २८० नियम संग्रहीत थे। उस समय का सामान्य सिद्धान्त "शठम् शाठ्यम् समाचरेत्" के आधार पर था। जैसे यदि मकान गिरने से किसी की मृत्यु हो जाय तो मकान निर्माता राज प्राणदण्ड का अधिकारी होता था। न्याय की व्यवस्था के लिए कई प्रकार के न्यायालय बनाये गए थे और क्रमशः कनिष्ठ न्यायालय से उच्च न्यायालयों में पुनः प्रार्थना (Appeal) भी होती थी। नियमों का पालन कठोरता से होता था और दण्ड भी भयंकर दिया जाता था। घूस लेना अपराध था और उसके लिए दण्ड का विधान था।

सामाजिक व्यवस्था—यहाँ भी समाज में अनेक वर्ग थे किन्तु उनमें तीन प्रमुख थे, उच्च वर्ग (अमेलू) मध्यम वर्ग (मुश्किनु) और निम्न वर्ग (अरदू)। निम्न वर्ग यहाँ भी दासों का होता था। उच्च वर्ग को राजनैतिक व सामाजिक विशेष अधिकार प्राप्त थे। मध्यम वर्ग साधारणतया स्वतन्त्र था परन्तु युद्ध के समय उसे सेना में सम्मिलित होना पड़ता था। यहाँ का पारिवारिक जीवन सुन्दर था। स्त्री का सम्मान होता था और वह सम्पत्ति की स्वामिनी हो सकती थी। इसे विवाह विच्छेद (तलाक) का भी अधिकार था। आचरण में स्त्री पुरुष पवित्र समझे जाते थे और कठोर दण्ड के भागी होते थे। इस समाज में अस्थायी विवाह पद्धति (Trial Marriage) भी प्रचलित थी जो मुसलमानों में प्रचलित मुता शादी की भाँति होता था। विवाह के अवसर पर कोई विशेष संस्कार नहीं होता था। स्त्रियाँ भी स्वतन्त्र व्यवसाय कर सकती थीं। पुत्रोत्पत्ति न होने पर गोद लेने की प्रथा भी थी।

धार्मिक व्यवस्था—ये भी सुमेरियन लोगों की भाँति अनेक देवताओं में विश्वास करते थे। लगभग ६५ हजार देव देवता थे जिनमें आकाश (अनु) सूर्य (शमश) चन्द्रमा (ननर) और पृथ्वी (बेल) मुख्य थे। राजा नगर का प्रतिनिधि देवता माना जाता था और साधारणतया प्रत्येक परिवार का एक प्रधान देवता होता था। देवताओं की प्रतिमायें बनाई जाती थीं, इन्हें मन्दिरों में स्थापित किया जाता था और तब इनकी उपासना होती थी। इनमें नामी प्रथा बलि प्रथा आदि प्रचलित थीं। 'मरदुक' बेबीलोनिया का सामन्त था। 'ईस्तर' प्रेम का देवता था। ऐसी अवस्था में पुजारी और पुरोहित स्वाभाविक रूप में प्रधान होते थे और पूजा

विधि के विशेषज्ञ होते थे। उन्हीं की अध्यक्षता में धार्मिक कार्य सचालित होते थे।

साहित्य और कला—इस क्षेत्र में अत्यन्त अद्भुत बात यहाँ के विद्यालयों की है। सम्भवतः विद्यार्थियों के पढ़ने के लिए विश्व की सर्वप्रथम पाठशाला यहीं स्थापित हुई थी। विद्यार्थी नरम चिकनी मिट्टी की स्लेटों पर लिखते थे और वर्णमाला का प्रयोग न जानने के कारण सकेतों का प्रयोग करते थे। लेखकों का समाज में बहुत सम्मान होता था। खुदाई से प्राप्त एक विद्यालय के खण्डहर की भित्ति पर यह लेख मिला है कि "जो कुशल लेखक हैं वे सूर्य की भाँति चमकेंगे"। इस विद्यालय का विस्तार ५५ वर्ग फीट है। उनकी लिपि में लगभग ३०० शब्द खण्ड के सकेत थे और इस ध्वन्यात्मक लिपि कहते थे। साहित्य में ये लोग अधिक रुचि नहीं रखते थे फिर भी साधारण गति अवश्य थी। कला में वे निपुण थे। स्थापत्यकला का उदाहरण 'जिग्गुरात' थे जिनकी मीनारों की ऊंचाई ६५० फीट तक होती थी। मूर्तिकला में वे हाथ नहीं बटा सके, सगीत कला में वे बहुत रुचि रखते थे। इस क्षेत्र में बाँसुरी बीन मशक तुरही भापू, ढोल, वीणा, मन्जीरा आदि वाद्ययत्रों का प्रयोग खूब होता था। फिर भी यहाँ के लोगों ने व्याकरण शब्दकोष और भाषा विज्ञान के क्षेत्र में भी उन्नति अवश्य की थी। 'गिलगमिश' यहाँ का प्रसिद्ध महाकाव्य है जो बारह सर्गों में विभक्त है, विज्ञान के क्षेत्र में गणित का यहाँ जन्म हुआ और समुद्री मार्गों का व्यापार में प्रयोग हुआ, इसके कारण ज्योतिष शास्त्र का भी विकास हुआ। खगोल विद्या का विकास भी यहीं से आरम्भ हुआ माना जाता है।

महत्व—यद्यपि यह सभ्यता प्रसिद्ध बहुत है परन्तु फिर भी मानव कल्याण के लिए विशेष लाभदायक नहीं हो सकी। यूनान ने इस सभ्यता से बहुत कुछ सीखा है। गणित, ज्योतिष स्थापत्यकला, विज्ञान आदि में विश्व और विशेषकर यूरोप इस सभ्यता का सदैव आभारी रहेगा।

प्राचीन भारत (सिन्धु की घाटी) की सभ्यता

सन १९२२ तक भारतीय सभ्यता के सम्बन्ध में अनुमान के आधार पर यह समझा जाता था कि यह लगभग ३००० वर्ष पुरानी है किन्तु भारतीय पुरातत्व विभाग के सर मार्शल के तत्वावधान में हड़प्पा[1] और मोहिनजोदड़ो[2] की खुदाई करवा कर जो अवशेष प्राप्त किए उसके आधार पर अब भारतीय संस्कृति का रूप निखर गया है। अब भारत की प्राचीन सभ्यता कम से कम ५००० वर्ष पुरानी उस समय की आँकी जाती है जब यह उन्नति की चरम सीमा पर थी। अर्थात् इसके विकास का आरम्भ तो और भी पुराना है। कुछ इतिहासकारों के मतानुसार अब इसे सिन्धु घाटी की सभ्यता कहना भी उचित नहीं है क्योंकि यह सभ्यता गंगा की घाटी,

१ हड़प्पा रावी नदी के तट पर पाकिस्तान की सीमा में है। सर्वप्रथम यहीं पर मुहरें प्राप्त हुई थी जिनके आधार पर खुदाई हुई।

२ मोहिनजोदड़ो हड़प्पा से लगभग ४०० मील दूर (सिन्ध प्रान्त में) पाकिस्तान में ही है।

नागरिकों में दुर्बलता आ गई। तब असीरिया के लोगों ने इन्हें परास्त कर अपना शासन स्थापित कर लिया।

राजनैतिक व्यवस्था—इस सभ्यता के समय अनेक शासक हुए किन्तु स्पष्ट ज्ञान केवल हम्मू राबी के समय का ही मिलता है, औरों का प्रसंग उपलब्ध नहीं है। हम्मू राबी ने अपने शासन सम्बन्धी नियम अशोक की भाँति विशाल स्तम्भों पर अंकित करा दिए थे। शासन क्षेत्र में राजा ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था इसीलिए साधारण जनता उसकी आज्ञाओं का पालन करना अपना पुनीत कर्तव्य समझती थी। शासन की दृष्टि से साम्राज्य, प्रांत, प्रदेश आदि भागों में विभक्त था। शासन विधान के रूप में एक 'विधि-संहिता' भी विद्यमान थी जिसमें लगभग २८० नियम सम्मिलित थे। उस समय का सामान्य सिद्धान्त 'शठम शाठ्यम समाचरेत' के आधार पर था। जैसे यदि मकान गिरने से किसी की मृत्यु हो जाय तो मकान निर्माता राज प्राणदण्ड का अधिकारी होता था। न्याय की स्थापना के लिए कई प्रकार के न्यायालय बनाये हुए थे और क्रमशः वरिष्ट न्यायालय से उच्च न्यायालयों में पुनः प्रार्थना (Appeal) भी होती थी। नियमों का पालन कठोरता से होता था और दण्ड भी भयंकर दिया जाता था। घूस लेना अपराध था और उसके लिए दण्ड का विधान था।

सामाजिक व्यवस्था—यहाँ भी समाज में अनेक वर्ग थे किन्तु उनमें तीन प्रमुख थे, उच्च वर्ग (अमेलू) मध्यम वर्ग (मुश्किनु) और निम्न वर्ग (अरदू)। निम्न वर्ग यहाँ भी दासों का होता था। उच्च वर्ग को राजनैतिक व सामाजिक विशेष अधिकार प्राप्त थे। मध्यम वर्ग साधारणतया स्वतन्त्र था परन्तु युद्ध के समय उसे सेना में सम्मिलित होना पड़ता था। यहाँ का पारिवारिक जीवन सुन्दर था। स्त्री का सम्मान होता था और वह सम्पत्ति की स्वामिनी हो सकती थी। उन्हें विवाह विच्छेद (तलाक) का भी अधिकार था। आचारहीन स्त्री पुरुष पतित समझे जाते थे और कठोर दण्ड के भागी होते थे। इस समाज में अस्थायी विवाह पद्धति (Trial Marriage) भी प्रचलित थी जो मुसलमानों में प्रचलित मुता शादी की भाँति होती थी। विवाह के अवसर पर कोई विशेष संस्कार नहीं होता था। स्त्रियाँ भी स्वतन्त्र व्यवसाय कर सकती थीं। पुत्रोत्पत्ति न होने पर गोद लेने की प्रथा भी थी।

धार्मिक व्यवस्था—यह लोग सुमेरियन लोगों की भाँति अनेक देवताओं में विश्वास करते थे। लगभग ६५ हजार इनके देवता थे जिनमें आकाश (अनु) सूर्य (शमश) चन्द्रमा (नन्नर) और पृथ्वी (बेल) मुख्य थे। राजा नगर का प्रतिनिधि देवता माना जाता था और साधारणतया प्रत्येक परिवार का एक अलग देवता होता था। देवताओं की प्रतिमायें बनाई जाती थीं, उन्हें मन्दिरों में स्थापित किया जाता था और तब उनकी उपासना होती थी। इन्द्रजाल प्रथा बलि प्रथा आदि प्रचलित थीं। मर्दुक बेबीलोनिया का कामदेव था। इश्तर प्रेम की देवता था। ऐसी अवस्था में पुजारी और पुरोहित स्वाभाविक रूप में प्रधान होते थे और पूजा

विधि के विशेषज्ञ होते थे। उन्ही की अध्यक्षता मे धार्मिक कार्य सचालित होते थे।

साहित्य और कला—इस क्षेत्र म अत्यन्त अदभुत बात यहाँ के विद्यालयो की है। सभवत विद्यार्थियो के पढने के लिए विश्व की सवप्रथम पाठशाला यहीं स्थापित हुई थी। विद्यार्थी नरम चिकनी मिट्टी की स्लेटो पर लिखते थे और वणमाला का प्रयोग न जानने के कारण सकेतो का प्रयोग करते थे। लेखको का समाज म बहुत सम्मान होता था। खुदाई से प्राप्त एक विद्यालय के खण्डहर की भित्ति पर यह लेख मिला है कि "जो कुशल लेखक हैं वे सूय की भाँति चमकेंगे"। इस विद्यालय का विस्तार ५४ वग फीट है। उनकी लिपि म लगभग ३०० शब्द खण्ड के सकेत थे और इसे ध्वन्यात्मक लिपि कहते थे। साहित्य म ये लोग अधिक रुचि नहीं रखते थ फिर भी साधारण गति अवश्य थी। कला मे वे निपुण थे। स्थापत्यकला का उदाहरण 'जिग्गुरात' थ जिनको मीनारो की ऊँचाई ६५० फीट तक होती थी। मूर्तिकला म वे हाथ नही बटा सके, सगीत कला म व बहुत रुचि रखते थे। इस क्षेत्र मे बाँसुरी बीन मशक, तुरही, भापू ढोल, वीणा, मञ्जीरा आदि वाद्ययत्रो का प्रयोग खूब होता था। फिर भी यहा के लोगो ने व्याकरण, शब्दकोष और भाषा विज्ञान के क्षेत्र म भी उन्नति अवश्य की थी। 'गिलगमिश' यहाँ का प्रसिद्ध महाकाव्य है जो बारह सर्गों म विभक्त है, विज्ञान के क्षेत्र म गणित का यहा जन्म हुआ और समुन्नी मार्गों का व्यापार म प्रयोग हुआ, इसके कारण ज्योतिष शास्त्र का भी विकास हुआ। खगोल विद्या का विकास भी यही से आरम्भ हुआ माना जाता है।

महत्व—यद्यपि यह सभ्यता प्रसिद्ध बहुत है पर तु फिर भी मानव कल्याण के लिए विशष लाभदायक नही हो सकी। यूनान ने इस सभ्यता स बहुत कुछ सीखा है। गणित, ज्योतिष, स्थापत्यकला विज्ञान आदि म विश्व और विशेषकर यूरोप इस सभ्यता का सदव आभारी रहेगा।

प्राचीन भारत (सिन्धु की घाटी) की सभ्यता

सन १९२२ तक भारतीय सभ्यता के सम्बन्ध म अनुमान के आधार पर यह समझा जाता था कि यह लगभग ३००० वष पुरानी है किन्तु भारतीय पुरातत्व विभाग के सर मार्शल के तत्वावधान में हड़प्पा[1] और मोहिनजोदड़ो[2] की खुदाई करवा कर जो अवशेष प्राप्त किए उसके आधार पर अब भारतीय सस्कृति का रूप निखर गया है। अब भारत की प्राचीन सभ्यता कम से कम ५००० वष पुरानी उस समय का आकी जाती है जब यह उन्नति की चरम सीमा पर थी। अर्थात् इसके विकास का आरम्भ तो और भी पुराना है। कुछ इतिहासकारो के मतानुसार अब इसे सिन्धु घाटी की सभ्यता कहना भी उचित नही है क्योकि यह सभ्यता गगा की घाटी

१ हड़प्पा रावी नदी क तट पर पाकिस्तान की सीमा में है। सवप्रथम यहीं पर मुहरें प्राप्त हुई थी जिनके आधार पर खुदाई हुई।

२ मोहिनजोदड़ो हड़प्पा से लगभग ४०० मील दूर (सिन्ध प्रान्त में) पाकिस्तान म ही है।

सम्पूर्ण राजस्थान, पंजाब, सिन्धु और गुजरात तक व्याप्त थी। इसलिए इसे प्राचीन भारत की सभ्यता कहना ही उपयुक्त है। राजस्थान के जयपुर नगर के निकट भाग में हाल ही की खुदाई के फलस्वरूप एसे प्रमाण मिले हैं जो मोहनजोदड़ो के प्राप्त अवशेषों के समकालीन अथवा उससे भी प्राचीन दृष्टिगत होते हैं। अतः इस सभ्यता को हम प्राचीन भारत की सभ्यता ही कहेंगे। डा० राधाकुमुद मुकर्जी का मत है कि हमारे भारत की सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यता थी और अन्य विद्वान भी इस विचार से सहमत हैं।

नगरों की योजना और निर्माण—इन नगरों के खण्डहर के फलस्वरूप प्राप्त अवशेषों से यह प्रकट होता है कि नगर किसी योजना के अनुसार बसाये गये थे। सड़कों पर अनेक चौराहे हैं जो पूरे समकोण बनाते हैं। मार्ग और उपमार्ग (गलियाँ) भी सीधे हैं तथा आपस पर समकोण बनाते हैं। मार्गों की दिशा पूर्व-पश्चिम अथवा उत्तर-दक्षिण को है। प्रधान सड़क की चौड़ाई ३३ फीट है तथा दूसरी सड़कें १८ फीट १२ फीट तथा ९ फीट चौड़ी हैं। भवन साधारणतया दो मंजिल के होते थे और उनकी छतें पक्की बनी होती थीं। निर्धन व्यक्तियों के मकान मिट्टी के बने होते थे। स्नान, रसोई और नालियों की व्यवस्था भी इन भवनों में होती थी। स्तम्भ चौकोर होते थे। छतों पर का निर्माण विशेष ढंग से होता था। इनमें बल्लियों की ऐसी व्यवस्था थी कि एक ही बार में कई वस्तुएँ तैयार की जा सकें। दीवारों पर मिट्टी का प्लास्टर होता था (राजस्थान में जिसे गारा कहते हैं इसमें नीली की चिकनी मिट्टी, भूसा, गोबर आदि डालकर तैयार किया जाता है और यह मकानों की दीवारों पर मिट्टी का लगाया जाता है) इस पर गोबर लीपा जाता था और फिर खड़िया से पुताई होती थी। नगर के भवनों से गन्दा पानी बाहर निकालने के लिए नालियाँ भी थीं और उनको प्रत्येक घर की नालियाँ बाहर की नाली से और इस नाली को नगर की बड़ी नाली से सम्बन्धित होता था और इस प्रकार समस्त नगर का गन्दा पानी बाहर बहा दिया जाता था। वर्तमान समय की तरह प्रणाली इस पर बनी प्रतीत होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वच्छता और सफाई तथा स्वास्थ्य के प्रति वे लोग बहुत सजग थे। मकानों में खिड़कियाँ तथा सीढ़ियाँ होती थीं और लगभग हर भवन में एक कुआँ भी होता था।

सार्वजनिक-स्नानागार—आधुनिक तरण-तालों (Sweeening Pools) की भाँति प्राचीन काल में भी सार्वजनिक स्नानागारों की व्यवस्था थी। इस स्नानागार की लम्बाई ३९ फीट चौड़ाई [illegible] फीट तथा ऊँचाई ८ फीट है। ऐसा भी स्नानागार मिला है जिसमें गर्म जल का प्रबन्ध था। गन्दे पानी बाहर निकालने की भी व्यवस्था इसमें थी। इसके चारों ओर आठ कमरे बने हुए हैं और प्रत्येक कमरे के साथ एक एक स्नानघर है। एक सामने भवन भी साथ में है जो २०० फीट लम्बा और ११५ फीट चौड़ा है। इसकी दीवारें पाँच फीट चौड़ी हैं। अनुमान किया जाता है कि यह या तो किसी सम्पन्न व्यक्ति का भवन था अथवा कोई सार्वजनिक स्थान, जैसे कर रूप में इकट्ठा किया हुआ अनाज रखने का गोदाम आदि।

सामाजिक व्यवस्था—उस समय कृषि जनता का मुख्य व्यवसाय था, गेहूँ और जौ बहुत उत्पन्न होता था फिर भी मांसाहारी थे। सूती और ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्र पहनते थे। आभूषणों का प्रचार था और बहुत सुन्दर सुन्दर आभूषण बनाए जाते थे। स्त्री-पुरुष सभी आभूषण धारण करते थे। उस समय के अलंकारों से भरे दो तीन घड़े प्राप्त हुए हैं। बाल सवारने की भी अनेक प्रकार की कलाएँ विकसित थी। स्त्रियाँ अपना सिर ढका हुआ रखती थी इसलिए उनके केश विन्यास की कला स्पष्ट नहीं दिखाई देती। पुरुष मूछ नहीं रखते थे किन्तु दाढ़ी बढ़ाने की प्रथा थी। उस समय बर्तन भी प्रयोग में आते थे जो तांबा, राँगा आदि के होते थे। तीन दर्पण भी मिले हैं काजल की डिब्बियाँ भी मिली हैं जिनसे ज्ञात होता है कि आँखों की दृष्टि की रक्षा के लिए काजल का प्रयोग सभी नर नारी बहुतायत से करते थे। उबटन का प्रयोग भी किया जाता था। हाथी दाँत का काम भी होता था। समाज मे सुईयाँ और सिलाई का प्रचार भी था और सोने की सुइयाँ भी होती थी। आमोद प्रमोद के लिए खिलौने बनाए जाते थे और उनमें बलगाड़ी का अधिक प्रचार था। मिट्टी की टूटी हुई बैलगाड़ियाँ बहुत संख्या में प्राप्त हुई हैं। पक्षियों के पालन की प्रथा भी थी। उनके पिंजरे और खिलौने भी प्राप्त हुए हैं। सामाजिक जीवन की अर्थ-व्यवस्था मे तराजू एवं बाट की प्रथा भी विकसित हो चुकी थी। नागरिकों के मनोरंजन के हेतु शतरंज चौपड़ आदि का प्रचलन था। संगीत कला का भी विकास हो चुका था, ढोल गुरगुडी (राजस्थान में इसे राई गुरगुरी भी कहते हैं जो अब भी विशेष अवसरों पर बजाई जाती है) तथा ताशा का प्रचार था। अब भी गावों में कभी कभी इसका प्रयोग होता है। राजस्थान में इसे अम्बीताशा (मज़ाक में पेटकूटा) कहते हैं जो शायद अरबी ताशा का अपभ्रंश है। सम्भव है अरब में यह बाजा काम में आता हो और मुसलमानों के सम्पर्क से यहाँ आया हो। आर्थिक दृष्टि से ये लोग बहुत सम्पन्न थे। बाहर के देशों से व्यापार करते थे और रत्न, टीन, ताम्र आदि मंगाते थे। तत्कालीन स्वर्ण मुद्राएं और आभूषण इसके प्रमाण हैं।

धार्मिक व्यवस्था—उनके धार्मिक विश्वास क्या थे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। न तो उस समय के कोई देवालय मिले है और न कोई और ऐसा प्रमाण। मूर्तियाँ अधिकांश खण्डित ही मिली है। अनुमान यह लगाया जाता है कि ये लोग शाक्त धर्मावलम्बी थे और शिव पार्वती के उपासक थे। अनेक प्रकार की प्रतिमाएँ मिली है। एक प्रतिमा शिव की मानी जाती है वह नग्न है। संभवतः यह किसी विशेष मुद्रा में चित्रित है। इसमे तीन सिर हैं और तीन सींग। देवियों की प्रतिमाएँ भी बड़ी संख्या में मिली हैं। संभवतः शिव की प्रतिमा के साथ ये पार्वती की प्रतिमा ही होगी। पशुओं की प्रतिमाएँ भी मिली हैं जिनमें हाथी, भैंसा, बैल मींढा आदि प्रमुख हैं। कदाचित वर्तमान समय में जैसे दीपावली पर पशुओं की पूजा की जाती है उसी प्रकार प्राचीन काल में उन्हें देव रूप में प्रतिमा बनाकर भी पूजा जाता होगा। पशु मानव के लिए सहायक तो सदा से रहे ही हैं। कालान्तर में वे ही पशु देवताओं के वाहन के रूप में स्वीकार किए गए हैं। पीपल का वृक्ष

सम्पूर्ण राजस्थान, पंजाब, सिन्धु और गुजरात तक व्याप्त था। इसलिए इसे प्राचीन भारत की सभ्यता कहना ही उपयुक्त है। राजस्थान के उदयपुर नगर के आयड भाग में हाल ही की खुदाई के फलस्वरूप ऐसे प्रमाण मिले हैं जो मोहिनजोदड़ो के प्राप्त अवशेषों के समकालीन अथवा उससे भी प्राचीन ठहरते हैं। अतः इस सभ्यता को हम प्राचीन भारत की सभ्यता ही कहेंगे। डा० राधाकुमुद मुकर्जी का मत है कि हमारे भारत की सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यता थी और अन्य विद्वान भी इस विचार से सहमत हैं।

नगरों की योजना और निर्माण—उक्त नगरों की खुदाई के फलस्वरूप प्राप्त अवशेषों से यह प्रकट होता है कि नगर किसी योजना के अनुसार बसाए गए थे। सड़कों पर अनेक चतुष्पथ हैं जो पूरे समकोण बनाते हैं। मार्ग और उपमार्ग (गलियाँ) भी सीधे हैं तथा मोड़ पर समकोण बनाते हैं। मार्गों की दिशा पूर्व-पश्चिम अथवा उत्तर-दक्षिण में है। प्रधान सड़क की चौड़ाई ३६ फीट है तथा दूसरी सड़कें १८ फीट, १२ फीट तथा ६ फीट चौड़ी हैं। भवन साधारणतया दो मंजिल के होते थे और पक्की ईंटों के बने होते थे। निर्धन व्यक्तियों के मकान मिट्टी के बने होते थे। स्नानगृह, रसोई और नालियों की व्यवस्था भी उन भवनों में होती थी। स्तम्भ चौकोर होते थे। रसोईघर का निर्माण विशेष ढंग से होता था। उसमें चूल्हे की ऐसी व्यवस्था थी कि एक ही बार में कई वस्तुएं तैयार की जा सकें। दीवारों पर मिट्टी का प्लास्टर होता था (राजस्थान में जिसे 'गारा' करना कहते हैं उसमें नीचे की चिकनी मिट्टी पुराना भूसा आदि डालकर तैयार किया जाता है और कच्चे मकानों की दीवारों पर इसी को लगाया जाता है) इस पर गोबर लीपा जाता था और फिर भित्तियों में पुताई होती थी। तत्कालीन भवनों में गन्दा पानी बाहर निकालने के लिए नालियाँ भी थीं और उनका सम्बन्ध घर की नाली से सड़क की नाली से और उस नाली का नगर की बड़ी नाली से सम्बन्ध रहता था और इस प्रकार समस्त नगर का गन्दा पानी बाहर पहुँचा दिया जाता था। वर्तमान समय की गटर प्रणाली उसी ढंग पर बनी प्रतीत होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वच्छता और सफाई तथा स्वास्थ्य के प्रति वे लोग बहुत सजग थे। मकानों में खिड़कियाँ तथा सीढ़ियाँ होती थीं और लगभग हर भवन में एक कुआँ भी होता था।

सार्वजनिक-स्नानागार—आजकल के तरण-तालों (Sweening Pools) की भाँति प्राचीन काल में भी सार्वजनिक स्नानागारों की व्यवस्था थी। इस स्नानागार की लम्बाई ३९ फीट चौड़ाई २३ फीट तथा ऊँचाई ८ फीट है। ऐसा भी स्नानागार मिला है जिसमें ग्रीष्म जल का प्रबन्ध था। गन्दे पानी बाहर निकालने की भी व्यवस्था इसमें थी। इसके चारों ओर आठ कमरे बने हुए हैं और प्रत्येक कमरे के साथ एक एक स्नानघर है। एक सामने भवन भी साथ में है जो २०० फीट लम्बा और ११५ फीट चौड़ा है। इसकी दीवारें पाँच फीट चौड़ी हैं। अनुमान किया जाता है कि या तो यह किसी सम्पन्न व्यक्ति का भवन था अथवा कोई सार्वजनिक स्थान, जैसे कर रूप में इकट्ठा किया हुआ अनाज रखने का गोदाम आदि।

सामाजिक व्यवस्था—उस समय कृषि जनता का मुख्य व्यवसाय था, गेहूँ और जौ बहुत उत्पन्न होता था फिर भी मांसाहारी थे। सूती और ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्र पहनते थे। आभूषणों का प्रचार था और बहुत सुंदर सुंदर आभूषण बनाए जाते थे। स्त्री-पुरुष सभी आभूषण धारण करते थे। उस समय के अलंकारों से भरे दो तीन घड़े प्राप्त हुए हैं। बाल सवारने की भी अनेक प्रकार की कलाएँ विकसित थी। स्त्रियां अपना सिर ढका हुआ रखती थी इसलिए उनके केश विन्यास की कला स्पष्ट नहीं दिखाई देती। पुरुष मूंछे नहीं रखते थे किन्तु दाढ़ी बढ़ाने की प्रथा थी। उस समय बर्तन भी प्रयोग में आने थे जो तांबा रांगा आदि के होते थे। तीन दर्पण भी मिले हैं, काजल की डिब्बियाँ भी मिली हैं जिनसे ज्ञात होता है कि आँखों की दृष्टि की रक्षा के लिए काजल का प्रयोग सभी नर नारी बहुतायत से करते थे। उबटन का प्रयोग भी किया जाता था। हाथी दांत का काम भी होता था। समाज में सुईयों और सिलाई का प्रचार भी था और सोने की सुइयां भी होती थी। आमोद प्रमोद के लिए खिलौने बनाए जाते थे और उनमें बलगाडी का अधिक प्रचार था। मिट्टी की टूटी हुई बैलगाड़िया बहुत संख्या में प्राप्त हुई है। पक्षियों के पालन की प्रथा भी थी। उनके पिंजरे और खिलौने भी प्राप्त हुए हैं। सामाजिक जीवन की अन्य व्यवस्था मे तराजू एवं बाट की प्रथा भी विकसित हो चुकी थी। नागरिकों के मनोरंजन के हेतु शतरंज चौपड़ आदि का प्रचलन था। संगीत कला का भी विकास हो चुका था ढोल, गुरगुड़ी (राजस्थान में इसे राई गुरगुरी भी कहते हैं जो अब भी विशेष अवसरों पर बजाई जाती है) तथा ताशा का प्रचार था। अब भी गावों में कभी-कभी इसका प्रयोग होता है। राजस्थान में इसे अटवीताशा (मजाक में पेटकूटा) कहते हैं जो शायद अरबी ताशा का अपभ्रंश है। सम्भव है अरब में यह बाजा काम में आता हो और मुसलमानों के सम्पर्क से यहाँ आया हो। आर्थिक दृष्टि से ये लोग बहुत सम्पन्न थे। बाहर के देशों में व्यापार करते थे और रत्न, टीन, ताम्र आदि मगाते थे। तत्कालीन स्वर्ण मुद्राएं और आभूषण इसके प्रमाण हैं।

धार्मिक व्यवस्था—उनके धार्मिक विश्वास क्या थे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। न तो उस समय के कोई देवालय मिले हैं और न कोई और ऐसा प्रमाण। मूर्तियाँ अधिकांश खण्डित ही मिली हैं। अनुमान यह लगाया जाता है कि ये लोग शाक्त धर्मावलम्बी थे और शिव पार्वती के उपासक थे। अनेक प्रकार की प्रतिमाएं मिली हैं। एक प्रतिमा शिव की मानी जाती है वह नग्न है। सभवत यह किसी विशेष मुद्रा में चित्रित है। इसमें तीन सिर है और तीन सींग। देवियों की प्रतिमाएं भी बड़ी संख्या में मिली हैं। सभवत शिव की प्रतिमा के साथ ये पार्वती की प्रतिमा ही होगी। पशुओं की प्रतिमाएँ भी मिली हैं जिनमें हाथी, भैंसा, बैल मींढा आदि प्रमुख हैं। कदाचित वर्तमान समय में जैसे दीपावली पर पशुओं की पूजा की जाती है उसी प्रकार प्राचीन काल में उन्हें देव रूप में प्रतिमा बनाकर भी पूजा जाता होगा। पशु मानव के लिए सहायक तो सदा से रहे ही हैं। कालांतर मे वे ही पशु देवताओं के वाहन के रूप में स्वीकार किए गए हैं। पीपल का वृक्ष

और उस नमस्कार करती हुई महिला की प्रतिमा भी महत्वपूर्ण है। उस समय घड़ियाल, बन्दर, सर्प आदि की उपासना की भी प्रथा थी। लिंग और योनिपट्ट भी पर्याप्त मात्रा में मिले हैं। सिन्धुघाटी के ये लोग उपासक थे ही। अपने देवताओं की प्रतिमा के सामने नृत्य करने की प्रथा भी उस समय प्रचलित था। ऐसी प्रतिमाएँ भी मिली हैं। सूर्य की प्रतिमाएँ भी मिली हैं। उस समय अन्य स्थानों में भी सूर्य पूजा प्रचलित थी। मृतकों का दाह-संस्कार होता था। उनकी भस्म कई घड़ों में भरी हुई मिली है और शायद दफनाने की प्रथा भी थी, इसके भी कुछ अवशेष प्राप्त हुए हैं।

साहित्य और कला—इन नागरिकों को लेखन कला का ज्ञान था। परन्तु उनकी लिपि का अध्ययन अभी तक सम्भव नहीं हो सका। यह चित्र लिपि है। मुद्राओं पर लेख अंकित हैं। कुल मिलाकर लगभग ३९६ संकेत हैं जिनमें यह लिपि व्यक्त है। इस लिपि में प्रथम पंक्ति दाएँ ओर से बाएँ ओर और दूसरी पंक्ति बाएँ ओर से दाएँ ओर जाती प्रतीत होती है। बम्बई के डा० हेरास तथा काशी विश्वविद्यालय के डा० प्राणनाथ ने इन्हें पढ़ने का प्रयास किया है परन्तु अभी वे सफल नहीं हुए। चित्रकला में ये लोग प्रवीण थे और साहित्यिक तो होंगे ही। यद्यपि साहित्यिक प्रगति के प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं हैं किन्तु जो कुछ अवशेष प्राप्त हुए हैं वे यह सिद्ध करने में समर्थ हैं कि यह एक बहुत उन्नत सभ्यता थी और बिना साहित्यिक प्रगति के सभ्यता इस चरम सीमा तक आगे नहीं बढ़ सकती थी।

महत्त्व—इस सभ्यता ने भारत की अपनी सभ्यता विश्व में अति प्राचीन सिद्ध करने में समर्थ बनाया है। स्थापत्य कला और धर्म का महत्त्व सिद्ध किया है। ऐसी समुन्नत सभ्यता केवल भयंकर प्रलय द्वारा ही विनाश को प्राप्त हुई होगी ऐसा अनुमान है। इन अवशेषों में राजा, सैनिक आदि के अवशेषों का नितान्त अभाव यह स्पष्ट करता है कि ये लोग शान्तिप्रिय थे। अस्त्र शस्त्र मिले हैं किन्तु केवल भाला, तीर आदि और सम्भवतः तलवार से ये लोग परिचित नहीं थे। इस प्रकार आधुनिक भारत का मस्तक ऊँचा करने वाली यह हमारी भारतीय सभ्यता थी।

चीन की प्राचीन सभ्यता

चीन की प्राचीन सभ्यता भी भौतिक रूप से विकसित हुई थी। यह भी नदी घाटी सभ्यताओं में सम्मिलित है। ह्वांगहो और यांगत्सीक्यांग सरिताओं के प्रदेश में सर्वप्रथम इसका प्रादुर्भाव हुआ। यहाँ भी सर्वप्रथम नगर राज्यों की स्थापना द्वारा संगठन स्थापित हुए थे। लेखनकला भी चित्र और संकेतों द्वारा विकसित हुई। राजनैतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में भी यह सभ्यता निरन्तर विकसित हुई थी। भारतीय सभ्यता की भाँति इस सभ्यता का समय भी ठीक रूप से निश्चित नहीं किया जा सका है। इसका संक्षिप्त अध्ययन अब अगले पृष्ठों में किया जायगा।

राजनैतिक व्यवस्था—सर्वप्रथम नगर राज्यों की स्थापना द्वारा प्रजातन्त्रात्मक

प्रणाली का ही प्रादुर्भाव हुआ था, किन्तु कालान्तर में प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा एकाधिपत्य जमा लिया गया और अन्त में साम्राज्य भी बन गया था। सम्राट ईश्वर के प्रतीक समझे जाते थे और इनकी इच्छा ही राज्य का नियम होती थी। प्रशासन की दृष्टि से यहां भी प्रान्त, जिले आदि विभाजन किए गए थे। प्रारम्भिक सामन्त प्रथा भी दीर्घकाल तक यहाँ रही है। चीन में यह कहावत है कि ईसा से लगभग चार हजार वर्ष पूर्व यहाँ आदर्श शासक और आदर्श शासन व्यवस्था थी। प्राचीन राजवंशों में शुंग वंश, चाऊ (चू) वंश, चीन (सीन) वंश आदि उल्लेखनीय रहे हैं। चीन वंश का प्रमुख सम्राट शीवांगटी था जिसने हूणों के निरन्तर आक्रमणों से बचने के लिए प्रसिद्ध चीन की दीवार का निर्माण कराया। यह १८०० मील लम्बी है और दोहरी बनी हुई है। इसकी चौड़ाई २० फीट और ऊँचाई २२ फीट है। प्रत्येक १०० गज पर ४० फीट ऊँची मीनारों की व्यवस्था भी है। इस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में प्राचीन सभ्यता बहुत आगे बढ़ी हुई थी।

सामाजिक व्यवस्था—चीन का समाज प्रारम्भ से ही प्रजातान्त्रिक रहा है। वहाँ पितृ प्रधान परिवारों की प्रथा थी और स्त्रियों का सम्मान भी बहुत था। नागरिकों की कुमारावस्था पर बहुत ध्यान दिया जाता था और विवाह राज्य की देखरेख में नियुक्त अधिकारी द्वारा सम्पन्न होते थे। बहु विवाह और विवाहविच्छेद दोनों की प्रथा थी। समाज शान्तिप्रिय था। सैनिक बनना समाज का आदर्श नहीं था। समाज की व्यवस्था के लिए नागरिकों में वर्गीकरण अवश्य था। मण्डारिन, कृषक, कारीगर, अधिकारी और व्यापारी पाँच प्रमुख श्रेणियां थी, किन्तु ये जन्म जात नहीं थी। इसलिए चीन में योग्यता ही प्रत्येक व्यक्ति या वर्ग के सम्मान की कसौटी रही है, जन्म नहीं। यहां का मुख्य व्यवसाय कृषि ही था परन्तु साथ में मछली मारना और व्यापार करना भी अधिक प्रचलित थे। घरों में महिलाएँ कातने, बुनने का कार्य करती थीं। रेशमी वस्त्र भी यहाँ तैयार होते थे। अंगूर की शराब भी बनती थी। यह विदेशियों के सम्पर्क का फल था। जल घड़ी की प्रथा प्रचलित हो गई थी। इस प्रकार सामाजिक क्षेत्र में चीन बहुत आगे बढ़ा हुआ था।

धार्मिक आदर्श—पूर्वज पूजा यहाँ का मुख्य धर्म था। प्रकृति-पूजा भी प्रचलित थी। अनेक देवी देवताओं की मान्यता के साथ उन्हें प्रसन्न करने के लिये उपासना की जाती थी और बलि चढ़ाई जाती थी। धर्मान्धता और तन्त्र, टोना आदि भी प्रचारित थे। कालान्तर में चीन का धर्म कन्फ्यूशियस की विचार-धारा तथा भारत के बौद्ध धर्म से प्रभावित हुआ जो अभी साम्यवाद के पहले तक विद्यमान रहा।

भाषा, साहित्य और कला—यहाँ की लिपि की कठिनाई के कारण लेखन कला दुरूह थी, किन्तु समाज में लेखकों का बहुत सम्मान था। सरकारी पदों पर ऐसे ही लोग चुने जाते थे जो कुशल लेखक हों। बाद में मन्त्री ली ने लिपि सुधार किया था। कागज का प्रचार भी हो गया था। पहले बांस व लकड़ी द्वारा किन्तु बाद में रेशम के बने कागजों का प्रयोग होने लगा था और बड़े बड़े ग्रंथ लिखे गये

थे। यहाँ का साहित्य भारत की भाँति पद्यात्मक था। काव्य रचना अधिक होती थी। लीपो यहाँ का मुख्य कवि था। कला के क्षेत्र में चीनी सभ्यता कम नहीं थी। संगीत कला यूनानियों के प्रभाव से बहुत ही आगे बढ़ गई थी। उनका विश्वास था कि संगीत रहित जीवन व्यर्थ है। प्रस्तर कला के सुन्दर उदाहरण तत्कालीन कब्रों में मिले हैं। मिट्टी के चमकीले बर्तन बनाना उनकी विशेष कला थी। भारतवर्ष में आज भी 'चीनी मिट्टी' शब्द का प्रयोग बहुतायत से होता है। कनफ्यूशियस की प्रतिमा और मन्दिर वास्तुकला का सुन्दर उदाहरण है। उद्योग धन्धे भी बहुत विकसित थे। रेशम, चाय, बारूद, कागज आदि वस्तुओं का निर्यात भी होता था। मुद्रण, तथा कुतुबनुमा का आविष्कार भी यहीं ही हुआ था। इसीलिए विश्वकोष की भाँति कई ग्रन्थ यहाँ संकलित हुये हैं। इस प्रकार चीन की प्राचीन सभ्यता का स्थान विश्व के लिये महत्वपूर्ण है।

यूनान की प्राचीन सभ्यता

ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व तक यूनान जंगली देश था। केवल ईसा से १५०० वर्ष पूर्व यूनानी सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ है। अति प्राचीन न होते हुये भी पाश्चात्य देश इस सभ्यता के प्रति ऋणी हैं। इस सभ्यता को जन्म देने वाले भी आर्य जाति के लोग ही थे। पहले ये लोग भ्रमणशील जीवन व्यतीत करते थे। बाद में कृषि कौशल सीख जाने पर स्थायी निवासी बन गये और यहीं सभ्यता का विकास होने लगा।

राजनैतिक व्यवस्था—नगर राज्यों (City States) की स्थापना इस सभ्यता की विश्व को प्रमुख देन है। यहाँ की शासन-व्यवस्था जनतन्त्रीय थी और नागरिकों को अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त थे। शासक अपना कार्य दो समितियों की सहायता द्वारा करता था। एक समिति जाति के विवाद और झगड़ों का निर्णय करती थी और दूसरी समिति युद्ध के विषय में परामर्श करती थी। विशेष नियमों का निर्माण न होने तक परम्परायें ही विधि के समान समझी जाती थीं। अध्ययन आरम्भ होने तक जो नियम बनाये थे कुशाग्र बुद्धि वालों को कण्ठाग्र कराये जाते थे और आवश्यकता होने पर सुनाये जाते थे। कालान्तर में यूनान दस बारह स्वतन्त्र राज्यों में संगठित हो गया और ये राज्य अलग अलग शासन चलाने लगे। किन्तु बाद समय बाद पुनः संघ बनना आरम्भ हुआ और स्पार्टा और एथेन्स के संघ बहुत अधिक प्रभावशाली हो गये।

एथेन्स में एक लोकप्रिय सभा थी जिसमें प्रत्येक वयस्क पुरुष को सदस्यता प्रदान की गई थी। एक वर्ष में इसके चालीस अधिवेशन बुलाये जाते थे और इस सभा के प्रस्ताव ही राज्य के नियम बनते थे। कार्यकारिणी के रूप में एक दस अधिकारियों का मन्त्रीमण्डल होता था जो केवल एक वर्ष के लिये बनता था। इस प्रकार लगभग प्रत्येक नगर राज्य में ऐसी सभा होती थी। योग्यता के अनुसार सरकारी नियुक्तियां होती थीं और शिक्षा पर ध्यान दिया जाता था। स्पार्टा

इसके विपरीत कुलीन राजतन्त्र और सैनिक शक्ति का गढ़ बन गया था। वहाँ अनुशासन कठोर था। शिक्षा का महत्व था और वह जीवनोपयोगी व्यवहारिक शिक्षा का। लड़कियों की शिक्षा पर भी ध्यान दिया जाता था। परन्तु फिर भी कला, साहित्य आदि में स्पार्टा अधिक उन्नति नहीं कर सका। दीर्घकाल तक स्पार्टा और एथेन्स का संघर्ष भी घातक सिद्ध हुआ और सभ्यता की प्रगति में एक कठिनाई बना रहा।

सामाजिक व्यवस्था—यूनान की सामाजिक व्यवस्था में दास प्रथा का बड़ा भारी कलंक माना जाता है। उस समय वहां उच्च कुलीन मध्यम वर्गीय और दास तीन श्रेणियां के लोग रहते थे किन्तु अधिक संख्या तीसरी श्रेणी के लोगों की थी। समाज में महिलाओं को समान अधिकार नहीं थे वे परदा करती थीं। वे लोग भूमि से कुआ खोदकर जल निकालना नहीं जानते थे। दासों के साथ बड़ा अत्याचार करते थे इसीलिये लगभग दो चार वर्ष में दासों की मृत्यु हो जाती थी। समाज का सारा काम दास ही करते थे। इसका प्रभाव यह हुआ कि प्रथम दो वर्ग दासों पर निर्भर रहते रहते उन्हीं पर आश्रित हो गये। यहां का साधारण व्यवसाय कृषि करना ही था फिर भी उन्होंने उपनिवेश बनाकर व्यापार भी विकसित किया था। शराब तेल (जैतून), धातु तथा मिट्टी की चीजें आदि निर्यात करते थे। इस प्रकार समाज व्यवस्थित तथा धन धान्य से सम्पन्न था। परिवार का समुचित महत्व माना गया था। यहाँ बहु पत्नि विवाह की प्रथा नहीं सी थी।

धार्मिक अवस्था—यहाँ भी प्रकृति पूजा प्रचलित थी। अपने देवताओं में यह लोग अगाध श्रद्धा रखते थे और उन्हें प्रसन्न करने में रत रहते थे। नास्तिक दण्ड का भागी समझा जाता था उन्होंने अपने देवताओं के स्वरूप की कल्पना मानव के अनुरूप ही की थी। भविष्यवाणियां में वे विश्वास करते थे जो (Oracle) ऑरेकिल स्थान पर होती थी। पुनर्जन्म के सिद्धान्त में भी इनका विश्वास था। वे मानते थे कि यहां इस जन्म के कर्मों के अनुसार परलोक बनता या बिगड़ता है। जीयस अपोलो आदि उनके मुख्य देवता थे।

साहित्य, कला और विज्ञान—साहित्य और भाषा का विकास इस सभ्यता की विशेषता है। यहाँ अद्भुत इतिहासकार दार्शनिक, वैज्ञानिक और व्याख्याता उत्पन्न हुए हैं जिनका आज भी समस्त विश्व ऋणी है। कवि होमर प्रथम महाकाव्य का रचयिता था। 'इलियड' और 'ओडेसी' (Illiad and Odyssey) उसके सुविख्यात काव्य हैं। सोफोक्लीज और एरिस्टोफेन्स बहुत उच्चकोटि के नाटककार हुए हैं। हिमाच्छादित ओलिम्प पर्वत के मनोरम दृश्यों से ही इनकी काव्य सरिता और भाव लहरी प्रेरित हुई है। नागरिकों को लाभान्वित करने के लिए रंगमंच की व्यवस्था भी थी। हिरोडोटस का नाम इतिहासकारों में मुख्य है। प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात यूनान का ही सपूत था। अरस्तु और अफलातून उसी के शिष्य थे। इन्होंने शिक्षा, राजनीति, दर्शन साहित्य काव्य समाजशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर अपने मौलिक विचार व्यक्त किए हैं जो आज भी अध्ययन किय

मस्जिदों का गुम्बद महल में स्थापित होता था। इस प्रकार रोम के धार्मिक आदर्श मान गये थे।

साहित्य कला और विज्ञान—रोम का साहित्य उच्चकोटि का था। सम्राट आगस्टस के समय में इसकी अच्छी प्रगति हुई थी। व्याकरण, नैतिक शिक्षा और गणित पर अधिक बल दिया जाता था। यहाँ वर्जिल प्रसिद्ध कवि, सिसरो गद्य लेखक, होरेस गीतकार तथा लीवी आदि अच्छे इतिहासकार हुए हैं। यहाँ के साहित्य पर यूनान का स्पष्ट प्रभाव है। विज्ञान के क्षेत्र में भी अच्छी प्रगति हुई थी। व्यावहारिक विज्ञान तथा भूगोल विद्या का विश्लेषण किया गया था। अनेक चिकित्सक और मानचित्र निर्माता भी यहाँ पैदा हुए थे। वास्तुकला के क्षेत्र में तोरण, मेहराब और गुम्बद यहाँ की विशेषताएँ हैं। स्नानगृह, पुल तथा द्वारों के निर्माण में इस कला का अच्छा प्रदर्शन हुआ है। मूर्ति कला पर भी यूनान का प्रभाव है और प्रकृति चित्रण में रोम निवासी बहुत चतुर थे। यूनान के क्षेत्र में रोम निवासी नकलची थे किन्तु मौलिक नहीं।

महत्त्व—अव्यवस्थित होकर रोम की सभ्यता नष्ट हो गई किन्तु यह विश्व की एक अमूल्य देन समझी जाती है। प्रजातन्त्र के सिद्धान्त, साहित्यिक प्रगति तथा सामाजिक शान्ति के नये व्याख्यान इस संस्कृति की अमूल्य देन हैं। इसलिए रोम की सभ्यता का महत्त्व बराबर बना रहेगा।

अरब की सभ्यता

अरब का अधिकांश मरुस्थल है किन्तु इसके समुद्र तटीय प्रदेश उपजाऊ हैं। इसीलिए कृषि यहाँ के कुछ लोगों का व्यवसाय है और शेष लोग व्यापार करते हैं। समुद्र के किनारे रहने के कारण विदेशों से सम्पर्क सरलतापूर्वक हो गया था। इसीलिए इनका दृष्टिकोण भी कुछ उदार हो गया था। फिर भी अरब की सभ्यता का विकास इस्लाम की उत्पत्ति के बाद हुआ है। सन् ५७० में मुहम्मद साहब का जन्म हुआ था। इन्हें ईश्वर के पैगाम देने का अनुभव होता था इसलिए ये पैगम्बर कहलाए। जब इन्होंने अपने विचार व्यक्त किए तो कुछ समय बाद विरोध बढ़ने लगा और अन्त में सन् ६२२ में ये मक्का छोड़कर मदीना चले गए। उस समय से मुसलमानों का हिजरी सन् प्रारम्भ होता है। मदीना में मुहम्मद साहब ने व्यवस्था जमाई, कानून प्रचारित किए और सेना भी संगठित की। बाद में सन् ६३० में उन्होंने मक्का को भी जीत लिया था। तब इस्लाम सब जगह स्वीकार किया जाने लगा और उसका प्रचार बढ़ता गया। इस प्रचार के साथ ही अरब लोग अन्य सभ्यताओं, जैसे भारतीय, यूनानी, रोमन आदि के सम्पर्क में आए और इनसे बहुत कुछ सीखा। कई यूनानी और भारतीय ग्रन्थों का अरबी में उल्था भी कराया गया। इस प्रकार अनेक सभ्यताओं से प्रभावित होकर अरब सभ्यता का विकास हुआ।

राजनैतिक व्यवस्था—वहाँ के मुसलमानों का समाज सर्वोच्च शासक

समानता के आधार पर सगठित हुआ है किन्तु फिर भी राजनतिक क्षेत्र म परिवतन होते रहने के कारण प्रजातन्त्र से आरम्भ होकर राजतन्त्र प्रणाली का विकास हुआ और अन्त म खलीफा वंशानुगत के सिद्धान्तानुसार शासन करने लग थे। खलीफा धर्म एव राजनीति का सर्वेसर्वा होता था। केवल कुरान की आज्ञाए उसके लिये मान्य होती थीं। उस समय स्थानीय, प्रान्तीय, और सर्वदेशीय प्रशासन का विकास हुआ। प्रशासन की विभिन्न शाखाओ न्याय, पुलिस यातायात आदि का सगठन हुआ और डाक चौकी का सगठन भी किया गया जो बहुत सफल रहा। सडक, भवन, बाग आदि बनवाये गये। कृषि पर विशेष ध्यान दिया गया और सिंचाई के साधन उपलब्ध किये गये। व्यापार की सुविधा के लिये नये नगर बसाए। इस प्रकार राजनतिक दृष्टि से विकास हुआ था।

सामाजिक व्यवस्था—जसा ऊपर कहा गया है मुस्लिम जगत की सामाजिक समानता प्रारम्भ से ही अन्य सभ्यताओ के लिए आदर्श रही है। फिर भी सम्पन्न और धनी लोग कुछ विशेष अधिकारों म युक्त थ, जसे घोडे की सवारी आदि। महिलाओं के लिए पर्दा प्रथा थी तथा रंगीन वस्त्र धारण करती थी। बहु विवाह चार तक सीमित था और विवाह विच्छेद प्रथा प्रचलित थी। मनोरंजन को महत्व दिया गया था और सगीत, शायरी कुश्ती, शिकार आदि प्रमुख स्रोत समझे गए थ। आर्थिक जीवन को समुन्नत बनाने के लिए दूसरे स्थानो पर हवाचक्कियां लाई गई थी। जल घडी का प्रयोग भी आरम्भ हुआ था। बर्तन और आभूषणो का बहुत प्रयोग होता था। यहाँ का सूती और ऊनी वस्त्र विख्यात था। अनेक नगर फौलाद के काम, काच चीनी के बर्तन शस्त्र तल, इत्र आदि की उत्पत्ति के केन्द्र बन गए थ। चमडे का काम भी यहा बहुत अच्छा होता था। यहाँ का शराब शबत व रस प्रसिद्ध थे। इस प्रकार सामाजिक और आर्थिक जीवन शात और समृद्धिशाली था।

धार्मिक दर्शन—प्रारभ म समस्त दर्शन कुरान तक सीमित था किन्तु बाद म कट्टरता के कारण कठिनाइया उपस्थित हो गइ। अल्लाह के सिवा और कोई पूज्य नहीं है और मुहम्मद साहब उसके पैगम्बर हैं—यह मूल मन्त्र था और प्रत्येक मुसलमान के लिये पाच काय—कलमा नमाज रोजा, जकात और हज—आवश्यक थे। कालान्तर म शिया और सुन्नी के दो वर्गों का विकास हुआ और सूफी सम्प्रदाय भी चल पडा। यह रहस्यवादी दर्शन है। इस्लाम पर ईसाई तथा अन्य धर्मों का प्रभाव हुआ है।

साहित्य, कला और विज्ञान—इस सभ्यता के क्षेत्र मे अनेक स्कूल और कालेज स्थापित किये गए थे और इनके विश्वविद्यालय अन्य विश्वविद्यालयों मे अधिक उन्नत थे। बगदाद, काहिरा आदि शिक्षा के केन्द्र थ। इन विश्वविद्यालयों मे प्रत्येक मे १० हजार से १२ हजार तक विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। विदेशों के विद्यार्थी भी यहाँ शिक्षा लेने आते थे। अरब सभ्यता म काव्य और कहानी साहित्य की प्रचुरता है। इब्न इब्लहानी यहाँ का प्रसिद्ध कवि था और सुरा, सुन्दरी और

संगीत से उन्हें स्नेह था। फिरदौसी का 'शाहनामा' उच्चकोटि की रचना है। उमरखय्याम की रुबाइयाँ और सादी की रचनाएं सुन्दर हैं। वास्तुकला में यहाँ बहुत उन्नति हुई थी और अनेक शैलियाँ विकसित हुई। यहाँ के कलाकार पत्थर की जाली काटकर अन्य अनेक प्रकार की कारीगरी की वस्तुएं बनाते थे। विज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने अच्छी उन्नति की थी। अंक इन्होंने भारत में सीखे थे। गणित, ज्योतिष और चिकित्सा शास्त्र में उनका ज्ञान प्रशंसनीय था। शरीर के ज्ञान के साथ कुछ आपरेशन भी किए जाते थे। कागज का आविष्कार चीन में हुआ था परन्तु उसमें सुधार अरब लोगों ने किया और यहीं से यूरोप में कागज पहुंचा था। सिंचाई के साथ कृषि सुधार के लिए खादों का महत्व ये जानते थे। भूमि और बीज का मेल रखना तथा कलमों द्वारा विभिन्न पेड़ पौधों का समन्वय और विकास करना और फल पुष्प लगाना इन्हें खूब आता था।

महत्व—यद्यपि अरब सभ्यता में मौलिकता का अभाव है किन्तु फिर भी विभिन्न सभ्यताओं का समन्वय करते हुए इन्होंने स्वतन्त्र सभ्यता का विकास किया है तथा परोक्ष रूप से यूरोप की जाग्रति में बहुत महत्वपूर्ण हाथ बटाया है। इसलिए अरब सभ्यता का महत्व पूर्व और पश्चिम के आदान प्रदान के माध्यम की दृष्टि से और भी बढ़ जाता है।

मध्यकालीन यूरोप की सभ्यता

सन् ५०० ई० से लेकर लगभग सन् १५०० ई० तक का युग यूरोप में मध्य युग कहलाता है। इस एक हजार वर्ष के समय में पहले ५०० वर्ष अराजकतामय थे और बाद के ५०० वर्ष सामन्तवाद की प्रधानता के। इसी बीच यूरोप को एक नई शक्ति इस्लाम का भी सामना करना पड़ा। कालान्तर में ईसाई और मुसलमानों के बीच यरूशलम के अधिकार के लिए युद्ध हुए जो 'धर्म युद्ध' कहलाते हैं। बाद में पोप की शक्ति, मध्यम वर्ग के विकास तथा नए आविष्कारों के कारण सामन्तवाद की समाप्ति हो गयी। इस समय विद्या का पुनरुद्धार हुआ और यूरोप का नवीन इतिहास प्रारंभ हुआ। फिर भी पूर्ण परिवर्तन धर्म की क्रान्ति के कारण हुआ। यहाँ हम केवल मध्यकालीन यूरोप की सभ्यता की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

राजनैतिक व्यवस्था—इस समय सामन्तवाद का जोर था इसलिए राज्य ने केन्द्रीय शक्ति बढ़ाकर सामन्तों का नियन्त्रण बनाने का कार्य किया। यद्यपि सामन्तवाद की समाप्ति धर्म की क्रान्ति से हुई थी परन्तु इसका पतन मध्ययुग में ही आरम्भ हो गया था। सब राज्यों में समान शासन, न्याय और कर व्यवस्था स्थापित की गई थी। इंगलैंड और स्विटजरलैंड में इसी समय प्रजातन्त्रवाद की नींव डाली गई थी। निरंकुश शासक दैवी सिद्धान्त का सहारा लेते थे। इस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में इस युग में राजतन्त्रात्मक, सामन्तिक और अन्त में जनतन्त्रात्मक प्रणालियाँ स्थापित हुई जो आज तक चली आ रही हैं।

सामाजिक व्यवस्था—इस समय का समाज अनेक वर्गों में विभाजित था। उच्चवर्गीय लोग अधिक सम्मान पाते थे। वैसे कृषक और धनिक सामन्त तथा पादरी तीन वर्ग थे किन्तु चौथा वर्ग बुर्जुआ (Bourgeoisie) और विकसित हो गया था जिनकी संख्या व्यापारिक केन्द्रों के नगरों में अधिक थी। समाज में मध्यमवर्ग का महत्त्व बढ़ रहा था। ये राजा के समर्थक और सामन्तों के विरोधी थे। बाद में शासन में भी हिस्सा मांगने लगे। पादरी बढ़ रहे थे और सामन्त निर्बल होते जा रहे थे। समाज में आर्थिक क्रान्ति का आरम्भ भी उसी युग में हुआ। व्यापार और उद्योग की उन्नति ने यूरोप के माल और धन की वृद्धि की और सभ्यता के प्रसार को सरल बनाया। नये नगरों की स्थापना हुई। बैंक, मुद्रा बीमा, ऋण आदि का प्रचलन हुआ। श्रमिकों और व्यापारियों के संघ बने। कृषि फिर भी जीविका की मुख्य आधारशिला थी। यातायात के साधन कम थे और मार्ग में लुटेरों का भय था।

धार्मिक आदर्श—इस युग में जनता का विश्वास था कि विश्व का सृजनहार केवल एक ईश्वर ही है और पृथ्वी पर पोप ही उसका प्रतिनिधि है। परन्तु यह अन्ध विश्वास अधिक समय तक न चल सका। पोप का सम्मान कम होने लगा और जनता स्वतन्त्र धार्मिक विचार करने लगी। इस युग का दर्शन 'पाण्डित्यवाद' का था जिसका आधार अरस्तू और सेंट आगस्टाइन थे। अरबी और हिन्दू दर्शन भी यूरोप में प्रचलित हुआ और इस समय यूरोप में अनेक दार्शनिक उत्पन्न हुए।

साहित्य, कला और विज्ञान—इस युग में शिक्षा का क्षेत्र विस्तृत हो गया था। छात्र और पाठशालायें शालाओं की संख्या बढ़ रही थी। आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय इसी समय स्थापित हुए थे। पेरिस विश्वविद्यालय धर्मशास्त्र के लिए ही खोला गया उसमें कला, कानून, धर्म और चिकित्सा की चार फैकल्टी थीं। १५वीं शताब्दी में यूरोप में लगभग ७० विश्वविद्यालय थे। शिक्षा के उद्देश्य परिवर्तित हो गये थे। कक्षाओं में छात्रों की उपस्थिति नहीं होती थी। व्याकरण, तर्क गणित, संगीत आदि अनिवार्य विषय थे तथा परीक्षाएँ होती थीं। इस युग में प्रणय और वीरता से सम्बन्धित साहित्य का सृजन हुआ और लोक कथा साहित्य की वृद्धि हुई। इतिहास भी लिखे गए। शिक्षा कार्य साधारणतः चर्च में होता था और नैतिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता था। ८ वर्ष के अध्ययन के पश्चात् मास्टर की उपाधि मिलती थी। समय समय पर विषय पर शास्त्रार्थ होते थे। छपी पुस्तकों के अभाव में प्रोफेसर के व्याख्यान अधिक महत्त्व के होते थे।

कला का क्षेत्र भी प्रभावित हुआ। नगरों की स्थापना से स्थापत्य कला विकसित हुई। भव्य प्रासाद व रम्य गिर्जाघरों का निर्माण हुआ। रोमनस्क और गौथिक दोनों श्रेणी की कला आगे बढ़ी। गिर्जाघरों की मेहराब तथा ऊंची मीनारें इसी युग की प्रतीक हैं। चित्रकला और संगीत कला में भी प्रगति हुई। मूर्तिकला भी निखरी और देवताओं के साथ मानव के दैनिक जीवन का चित्रण भी अंकित

में होने लगा। रंगीन कांच की सजावट इस युग में प्रारम्भ हुई थी।

अरब लोगों के सम्पर्क से विज्ञान में अनुसंधान प्रारम्भ हुई। पहले यूनानी वैज्ञानिक पुस्तकों का अनुवाद किया गया। फिर भारत की दशमलव एवं संख्या (हिन्दसे) पद्धति अपनाई गई। बीजगणित, रसायन, भौतिक विज्ञान में प्रगति हुई। तेरहवीं शताब्दी में नमारेरियस ने भार और गिरते वाले पदार्थों पर ग्रन्थ लिखा। चश्मे का आविष्कार इस युग की देन है। चिकित्सा की पद्धति लोकप्रिय बनी और जादू टोना का प्रभाव घटने लगा। बेकन इस समय का सबसे अधिक प्रसिद्ध वैज्ञानिक था उसने प्रयोग को स्थान विज्ञान में सर्वोच्च ठहराया। इस युग में मशीनों की घड़ी बनना प्रारम्भ हुआ। फ्रांस में पवनचक्की [illegible] के बाद कपड़ा बुनने की मशीन का आविष्कार हुआ। बारूद और बन्दूक के आविष्कार ने सामन्तों की शक्ति का महत्व कम कर दिया। इसी प्रकार मध्य युग में व्यापार की वृद्धि में कुतुबनुमा द्वारा जहाजों का उपयोग हुआ।

महत्व—वास्तव में इसे अन्धकार युग कहा गया है वह उचित नहीं है। इसी युग में आधुनिक युग का समारम्भ हुआ। पूर्व और पश्चिम का सम्पर्क स्थापित कर इसी युग ने मानव समाज का विस्तार किया। सामाजिक, आर्थिक धार्मिक आन्दोलन चलन गए। शिक्षा में उदारता आई। इस प्रकार मध्य युग यूरोप के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण और महान् परिवर्तनकारी सिद्ध हुआ।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ मध्य युग की सभ्यता की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

२ रोम की सभ्यता, अरब सभ्यता, यूनान की सभ्यता तथा चीन की सभ्यता पर छोटे छोटे निबन्ध लिखिए और किसी एक पर [illegible] लिखिए।

३ नदी कालीन सभ्यताओं में आप किस सभ्यता से अधिक प्रभावित क्यों? सविस्तार लिखिए।

४ मिस्र सभ्यता और सिन्धु घाटी की सभ्यता की तुलना कीजिए।

तृतीय अध्याय

पूर्व औद्योगिक आर्थिक संगठन का रूप

प्रस्तावना—वर्तमान यन्त्र युग का आर्थिक संगठन हमारे सामने है और इसके गुण और दोषों का सीधा प्रभाव प्रत्येक नागरिक स्वयं अनुभव करता है। परन्तु यह व्यवस्था वास्तव में औद्योगिक क्रांति की देन है जो अठारहवीं शताब्दी में हुई। इससे पूर्व समाज का आर्थिक संगठन किस प्रकार था, उसमें क्या अच्छाई और बुराई थी, यह ऐसा विषय है जिसे प्रत्येक विचारशील व्यक्ति समझना और जानना चाहता है। इसलिए हम पूर्व औद्योगिक आर्थिक संगठन के रूप का सम्भवतः पूरा अध्ययन करने की चेष्टा करेंगे।

प्रारम्भिक जीवन—सर्वप्रथम मनुष्य प्रकृति का दास था जो कुछ उसे प्राप्त होता था उसी में जीवन निर्वाह करता था। यह तो सत्य है कि मानव की मौलिक आवश्यकताएँ, भोजन, वस्त्र और निवास प्रारम्भ से ही प्रधान रही हैं। इनकी पूर्ति मानव उपलब्ध उपकरणों से ही करता था। भोजन के लिए कन्द, मूल, फल आदि का आश्रय लेता था। वस्त्र के लिए वल्कल तथा मृत पशुओं की खाल का उपयोग करता था और निवास के लिए कभी पेड़ के कोटर तो कभी गुफाओं में शरण लेता था। क्रमशः धीरे धीरे जब मानव को बुद्धि का सहारा मिला तो वह सोचने विचारने लगा और साधनों की उत्पत्ति और खोज करने लगा। भोजन के लिए शिकार करने लगा, चमड़े का उपयोग अधिक मात्रा में सम्भव हुआ और साथ ही शिकार की कठिनाई से उसे समूह के लाभ भी समझ में आने लगे। इस प्रकार प्रारम्भिक जीवन सहयोग से विकसित हुआ और मानव-समाज स्थापित हुआ। सब लोगों के श्रम से प्राप्त वस्तुओं पर अधिकार भी समान ही होता था इसलिए इस अवस्था को कुछ लोग 'प्रारम्भिक साम्यवाद' की संज्ञा देते हैं। परन्तु यह अवस्था दीर्घ काल तक न चल सकी। मानव स्वार्थी है। अतः प्राप्त चीजों के संग्रह की भावना उत्पन्न हुई और इसी समय से सम्पत्ति और संघर्ष भी आरम्भ हो गए। वस्तुओं का आदान प्रदान आरम्भ हुआ। इसी समय पशुपालन की प्रथा प्रचलित हुई। सम्भव है प्रारम्भ में पशुपालन एक मनोरंजन का साधन रहा हो परन्तु शीघ्र ही यह एक आर्थिक साधन के रूप में परिवर्तित हो गया। पशु समाज का धन बन गया। उसका मांस एवं चमड़ा उपयोगी था। बाद में पशु वर्ग आवागमन के साधन के रूप में भी काम में लिया जाने लगा। दूध, घी आदि का प्रयोग बहुत समय पश्चात् आरम्भ हुआ। भारतवर्ष में असम आदि प्रांतों में आज भी पशु केवल मांस के लिए पाले जाते हैं। उनके दूध का उपयोग नहीं किया जाता। तत्पश्चात् पशुओं का सर्वाधिक उपयोग कृषि के लिए किया जाने लगा।

कृषि जीवन—कृषि के आविष्कार ने मानव जीवन में परिवर्तन कर दिया।

अब तक मनुष्य चरागाहों पर निर्भर रहता था और आवश्यकतानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाया करता था। कृषि ने जीवन में स्थिरता प्रदान की। भूमि अब उसकी स्थायी सम्पत्ति बन गई और इसका भी सुविधानुसार आदान प्रदान, क्रय विक्रय प्रारम्भ हुआ। अब भोजन की दृष्टि से तथा पशुओं के चरागाहों की ओर से वह निश्चित होने लगा और संग्रह की आदतें पड़ने लगीं। यद्यपि अनावृष्टि या अतिवृष्टि के कारण फसल हाथ न लगने पर उसके सामने संकट उपस्थित होने की सम्भावना तो फिर भी रहती थी। मानव समूह मिल जुलकर सहयोग से स्थायी निवास करने लगे और गाँव बस गए। इस समय कला कौशल का विकास हुआ। मिट्टी का उपयोग घड़े इत्यादि बनने और ईंटें बनाई जाने लगीं। वस्त्र बनना आरम्भ हुआ। लकड़ी का उपयोग भी बढ़ा। कृषि के लिए नुकीली लकड़ी जिसे हो' (Hoe) कहा जाता है या हल यह सब तो हैं भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए काम में लाई जाने लगीं। इसी के साथ खाती और लुहार के व्यवसाय विकसित हुए। तत्कालीन ग्राम्य जीवन इस दृष्टि से स्वाश्रित होते थे। प्रत्येक ग्राम में खाती, लोहार, चमार, कुम्हार, धोबी, नाई, तेली, हरिजन (भंगी), महाजन, ब्राह्मण और राजपूत आदि प्रत्येक व्यवसाय के व्यक्ति होते और परम्परागत कार्य कुशलता उनकी विशेषता होती थी। इसी प्रकार दाई, वैद्य, पण्डित आदि भी गाँवों में रहते थे। इनके व्यवसाय बहुत महत्वपूर्ण होते थे परन्तु फिर भी सबका जीवन सादा और सरल होता था तथा एक दूसरे की सहायता के लिए सदा तत्पर रहते थे। इस समय तक का आर्थिक संगठन ठोस था अर्थात् मूल्य प्रथा (Price system) नहीं था। प्रत्येक व्यक्ति को अपना कार्य करने के उपलक्ष्य में अन्न मिलता था जो जीवन की आधारभूत आवश्यकता थी। इसलिए कीमतों के घटने बढ़ने की चिन्ता नहीं थी। साथ ही आज की भाँति शिक्षित बेरोजगारी की समस्या भी नहीं थी। उदाहरणार्थ यदि एक लुहार के चार पुत्र हैं तो उनके लिए गाँव चार भागों में बँट जाता था फिर यदि चारों में से केवल एक ही व्यक्ति के पुत्र हुआ है तो समस्त गाँव फिर एक ही सुनार की सेवा में रहता था। यही प्रथा सारे व्यवसायों में प्रचलित था। ग्राम छोटा होने की अवस्था में एक से अधिक ग्राम मिलकर भी यह व्यवस्था रखते थे। वस्त्र निर्माण के लिए कोली और जुलाहे भी प्रत्येक ग्राम में होते थे।

थोड़े समय बाद धातुओं का प्रयोग किया जाने लगा। ताँबा, जस्ता और इससे मिश्रित पीतल का प्रयोग भी आरम्भ हुआ। इसके उपयोग से मानव अच्छा कृषक और सफल शिकारी बना। धातुओं के फल लकड़ी पर लगाकर उसने खनन के लिए और इसी प्रकार शिकार के लिए बल्लम बरछी का आविष्कार किया। अच्छे बर्तन बनाकर भोजन पकाना सीखा और धीरे धीरे सोना, चाँदी आदि धातुओं का ज्ञान होने पर दस्तकारी में उन्नति करने लगा। इसलिए समाज में सम्पत्ति का प्रादुर्भाव हुआ और मनुष्य के लिए काम करने के मार्ग खुल गए। हस्तकौशल और शिल्पकला के विकास के कारण सामाजिक जीवन में विनिमय की आवश्यकता बढ़ती गई और व्यापार अपना महत्व बढ़ाने लगा। प्रारम्भ में तो उत्पादक स्वयं ही अपने

न्नाज के बदले में आवश्यक वस्तुएं लाया करता था, किन्तु इनकी संख्या बढ़ने से तथा जरूरत वाले व्यक्ति आवश्यकता के समय न मिलने की कठिनाई ने आधुनिक व्यापार प्रथा को जन्म दिया। अब उत्पादन की वस्तुओं का एक निश्चित स्थान तथा उनके व्यापार के लिए निश्चित व्यक्ति होने लग गए। दूरस्थ विभिन्न ग्रामों की सुविधा के लिए प्रति सप्ताह हाट लगते थे। इनमें वे वस्तुएं आती थी जो साधारणतया ग्रामों में उपलब्ध नहीं होती थी। अच्छी वस्तुएं, चाँदी सोने की चीजें सुन्दर वस्त्र अच्छी जाति के पशु आदि इन सम्मेलनों में आते थे और खूब क्रय विक्रय होता था। मेलों की प्रथा भी इसी युग में चली और कुछ लोगों ने यही अपना व्यवसाय बना लिया। लाभ के स्थान से अच्छी वस्तुएँ संग्रह कर आवश्यकता के स्थानों पर पहुँच कर उन्हें बेच देना और लाभ से जीवन निर्वाह करना उनका मुख्य उद्देश्य बन गया था। पशुओं का उपयोग आवागमन के साधनों के लिए होता था। प्राचीन समय में बैल लादने वाले बनजारे कहलाते थे और यह उनका प्रमुख व्यवसाय होता था। इन समूहों को बालद भी कहा जाता था। फिर सामन्तवादी युग में व्यापारी वर्ग की प्रधानता बढ़ गई। धीरे धीरे बहुमूल्य धातुओं का प्रयोग होने लगा और सामन्तों के सहयोग से व्यापारी वर्ग ने आवागमन के साधन मार्ग और सड़कों का निर्माण करवाया। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक यही पद्धति चलती रही। तत्पश्चात रेलगाड़ी के आविष्कार ने जन जीवन में पुनः क्रांति उत्पन्न कर दी।

इस समय दास प्रथा भी बहुत महत्वपूर्ण थी। कृषि के कार्य में ऐसे अनेक अवस्था की उपस्थिति दृष्टिगत होती है और सम्भवतः इसी आवश्यकता ने दास प्रथा को जन्म देकर स्थायी बनाया था। अन्य वस्तुओं की भाँति दास भी क्रय विक्रय और विनिमय की वस्तु समझे जाते थे और स्वामी हर प्रकार से उनके अधिष्ठाता होते थे। प्राणदण्ड क्रय, विक्रय और उनकी स्वतन्त्रता उनके स्वामी की इच्छा पर निर्भर करती थी। सामन्त प्रथा ने इसे और भी बलवान बना दिया। सामन्तों के लिए यह दास वर्ग कृषि करता था, युद्ध के समय जीवन लगाता था और शांति के समय स्वामी की तन मन से सेवा कर अपने को कृतार्थ समझता था। उनका पारिवारिक जीवन भी स्वामी की इच्छानुसार चलता था। उसका समस्त परिवार स्वामी की सेवा में रत रहता था। स्वामी की सन्तान के शादी ब्याह में दास दहेज में दिए और लिये जाते थे। भारतवर्ष में आज भी रजवाड़ों में दहेज में डावड़ी (दास कन्याएँ) और चाँद (दास पुत्र) देने की प्रथा प्रचलित है। मार्क्स के मतानुसार सामन्तवादी युग में सामन्त और दास के दो वर्ग थे और औद्योगिक युग में अब नवीन वर्ग उत्पन्न हो गए जिन्हें श्रमिक और पूंजीपति कहा जाता है। सर्वोदयी नेता इन दो वर्गों को 'हुजूर और मजूर' के नाम से सम्बोधित करते हैं। इस प्रकार औद्योगिक युग के पूर्व समाज का संगठन किसी न्याय पर आधारित नहीं था। केवल आवश्यकता और व्यवस्था के नाम पर कुछ समय व्यक्तियों ने परम्पराएँ चला दीं जो यन्त्र युग के आरम्भ होने तक चलती रहीं।

व्यापारिक स्वाश्रय—वैदिक युग के आरम्भ में प्रत्येक आर्थिक व्यवस्था स्वाश्रयी थी, यह कहा जा सकता है। प्रत्येक स्थान अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही व्यवसाय और उत्पादन के क्षेत्र में भाग लेता था। व्यापार की दृष्टि से भी भारत विदेशों से व्यापार में संलग्न था। जलमार्ग और स्थलमार्ग दोनों का प्रयोग करता था। ईरान, अरब तथा अन्य अनेक यूरोपीय देशों से हमारा व्यापार चलता था। चीन और पूर्वी द्वीप समूह तक भी व्यापारिक जहाज़ आते जाते थे। शिवाजी के समय में तो बहुत प्रसिद्ध जहाजी बेड़ा था जिससे यूरोपीय लोग भी भयभीत रहते थे। मगर मराठों ने तो समुद्री बेड़ा रक्खा था जो साधारण व्यापार भी करता था। अकबर के समय में होकर स्थल मार्ग द्वारा व्यापार होता था। पहले पुर्तगाल के साथ व्यापार होता था। फिर वास्कोडिगामा और कोलम्बस के प्रयत्नों से यूरोप से होकर अमेरिका से भी व्यापार आरम्भ हो गया और बाद में तो यूरोप और अमेरिका ही समस्त विश्व पर छा गया। अतः हम कह सकते हैं कि व्यापार की दृष्टि से पूर्व औद्योगिक युग में भारतवर्ष स्वाश्रित था और समानता के आधार पर अपना व्यापार संचालित करता था।

संगठन की दृष्टि से व्यापारिक वर्ग प्रारम्भ से ही संगठित रहा है। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे अनेक प्रसंग तथा प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि व्यवसाय के अनुसार बनी व्यापारियों की अनेक श्रेणियाँ (Guilds) विद्यमान थीं जो वर्तमान सहकारी समितियों तथा प्रशिक्षण संस्थाओं की भाँति सदस्यों की हर प्रकार सहायता करती थीं। इनके कार्य अनेक थे, वे नवयुवकों को शिक्षण देती थीं। बाद में जब विश्व-वाणिज्य की प्रथा प्रचलित हुई तब ये ही संगठन बड़े रूप में प्रकट हुए और बड़ी बड़ी कम्पनियाँ स्थापित हुईं। इस समय भारत पिछड़ गया अतः वास्तव में यहाँ का उपयोग होने लगा था। यन्त्र द्वारा कृषि में अधिक उत्पादन, वस्त्र की अधिक उत्पत्ति, युद्ध में निश्चित विजय पाने के लिए छपी हुई सुन्दर पुस्तकें आदि कृति का वर्णन मिला जिसके साथ लेकर आधुनिक युग ने प्रवेश किया।

प्राचीन आर्थिक संगठन की विशेषतायें—यद्यपि उपरोक्त वर्णन में ये सब विशेषताएँ आ चुकी हैं तथापि पुनः विशेषताओं के रूप में उन्हें फिर से एक बार दोहराया जा सकता है। सर्वप्रथम इस दृष्टि से प्राचीन आर्थिक संगठन की विशेषता थी कृषि प्रधान समाज व्यवस्था। ये समाज गाँवों में संगठित होते थे और सम्भवतः स्वाश्रयी होते थे। विभिन्न गाँवों और समुदायों के मध्य आवागमन के साधनों का नितान्त अभाव था और मार्ग-सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। राज्य नाम की संस्था का जन्म हो रहा था। आर्थिक क्षेत्र में जातियाँ बन रही थीं और जन्म के साथ ही व्यवसाय का निर्धारण होता था, अतः श्रम विभाजन वैज्ञानिक ढंग पर नहीं होता था। उत्पादन सरल और सामान्य तथा छोटे स्तर पर होता था। मध्यम वर्ग का विकास आरम्भ हो रहा था जो विनिमय में सहायक होता था। उत्पादन के लिए बहुत बड़ी धन राशि की आवश्यकता नहीं होती थी। कृषि के क्षेत्र में दास

प्रथा बलवान थी धीरे धीरे देश विदेश के व्यापार की प्रथा चलने लगी थी। इस प्रकार अनेक विशेषताओं के साथ पूर्व औद्योगिक अर्थ व्यवस्था ने औद्योगिक क्रांति के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया और तब नवीन औद्योगिक युग का श्रीगणेश हुआ।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ पूर्व औद्योगिक आर्थिक संगठन से आप क्या समझते हैं? समझाकर लिखिए और इसकी प्रमुख विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

२ 'सम्पत्ति की उत्पत्ति' पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

३ "प्राचीन काल में ग्राम स्वावलम्बी थे" इस कथन की युक्तियुक्त पुष्टि अथवा खंडन कीजिएगा।

४ विनिमय का व्यापार में क्या स्थान रहा है—विस्तारपूर्वक लिखिए।

५ प्राचीन आर्थिक व्यवस्था के गुण और दोष लिखियेगा।

— o —

चतुर्थ अध्याय

आधुनिक राजनैतिक सिद्धान्त

प्रस्तावना—कुछ विद्वानों का मत है कि आधुनिक राजनैतिक सिद्धान्तों का श्रीगणेश सत्रहवीं शताब्दी से होता है और थामस हॉब्स इस युग का महान प्रवर्तक था। राज्य सत्ता के सिद्धान्त का पूर्ण विवेचन सर्वप्रथम हॉब्स ने ही किया था। इस बात को मान लेने पर भी यह आवश्यक होता है कि प्राचीन काल की राजनैतिक विचारधारा का भी संक्षिप्त अध्ययन किया जाय जिससे वर्तमान को समझना अत्यन्त सुलभ हो जाय। इसी दृष्टि से पहले हम संक्षेप में प्राचीन राजनैतिक सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे और उसके पश्चात् आधुनिक राजनैतिक सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे।

प्राचीन राजनैतिक सिद्धान्त—वैसे तो विश्व का प्राचीन इतिहास अत्यन्त व्यापक है और लगभग प्रत्येक राष्ट्र एवं राज्य का अपना अलग इतिहास है। उसी प्रकार वहाँ के राजनैतिक सिद्धान्तों का भी इतिहास है। इनमें भी भारत, मिस्र, असीरिया, चीन आदि अत्यन्त प्राचीन हैं, किन्तु यहाँ हम केवल यूनान की राजनैतिक विचारधारा से ही अपना प्रसंग सम्बन्ध रक्खेंगे। प्राचीन यूनानी राजनैतिक विचारों का प्रारम्भ ईसा से पूर्व पाँचवीं शताब्दी से माना गया है। उस समय वहाँ सर्वप्रथम सोफिस्ट (Sophist) लोग उत्पन्न हुए थे। ये बुद्धिवादी थे और प्रत्येक विचार को तर्क द्वारा समझते थे। इन्होंने राज्य और नियम इत्यादि मानवीय सिद्ध कर दिये थे। महात्मा सुकरात इसी विचारधारा के पोषक थे। फिर प्लेटो और अरस्तू का प्रादुर्भाव हुआ। ये दोनों प्राचीन राजनीति के अनन्य स्तम्भ माने जाते हैं। इन्होंने राज्य को नैसर्गिक और अनिवार्य संस्था सिद्ध किया। अरस्तू ने घोषणा की कि मनुष्य राजनैतिक प्राणी है। तत्पश्चात् यूनान में दो नवीन विचारधारायें विकसित हुईं, जिनमें से पहली एपीक्यूरस के द्वारा चलाई हुई आनन्दवाद (Epicurianism) और दूसरी स्टोइक्स द्वारा चलाई हुई विरक्तिवाद (Stoicism) की विचारधारायें कहलाती हैं। इसके बाद रोम के विद्वानों ने विधिशास्त्र (Jurisprudence) आदि को जन्म दिया। प्रशासन सम्बन्धी अधिकार पृथकता, नियन्त्रण तथा सन्तुलन आदि के सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी इसी समय हुआ।

मध्यकालीन राजनैतिक सिद्धान्त—यह युग प्रधानतः सामन्तवादी युग रहा है, इसलिए सामन्तवादी विचारों का ही महत्त्व भी था। किन्तु ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव से राजनीति भी नहीं बच सकी। ईसाई धर्मानुयायी सुन्दर संगठित होते थे इसलिए धीरे धीरे ईसाई धर्म संघ राजनीति में प्रवेश करने लगे। अन्त में 'पवित्र रोम साम्राज्य' और पवित्र रोम सम्राट भी बन गये। ईसाई धर्म की प्रधानता के कारण इस युग के राजनैतिक विचारों पर उसकी गहरी छाप है। यद्यपि महात्मा

ईसा ने स्पष्ट कहा था "मेरा राज्य लौकिक नही अलौकिक है" (My kingdom is not of this world)। अर्थात राजनीति से अलग रहना उनका उद्देश्य था परन्तु जब राजनीति धर्म से प्रभावित हो गई और धर्म के हाथ सत्ता, सम्पत्ति आदि आ गई, तब धर्म और राजनीति में संघर्ष आरम्भ हुआ। इस समय तीन विचार प्रमुख रहे। प्रथम धर्म और राजनीति पृथक हैं और धर्म को राजनीति में हस्तक्षेप नही करना चाहिए। दूसरा यह कि धर्म राजनीति से श्रेष्ठ है अत राज्य धर्म के आधीन रहना चाहिए। तीसरा यह कि राजसत्ता, धर्म आदि सबसे उच्च है। इन पद्धतियों पर चलने वाली विचारधारा (Scholasticism) पाण्डित्यवाद कहलाती है। इस समय राज्य का ईश्वरीय सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया था। बाद में राजाओं के अधिकार का सिद्धान्त भी इसी का परिवर्तित रूप रहा था।

आधुनिक राजनतिक सिद्धान्त—मेकियावेली इस युग का प्रथम विद्वान था। यह इटली का निवासी था (१४६९–१५२७)। इसने राजनीति को स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकसित किया। धर्म और नीति से सर्वथा अलग कर दिया। वह राज्य को सुदृढ बनाना चाहता था इसलिए (End justifies the means) 'उद्देश्य के अनुसार सब साधन उपयुक्त होते है' सिद्धान्त का प्रचलन किया। इस समय राज्य के सम्बन्ध में नई 'समझौता सिद्धान्त' (Contract Theory) प्रचलित की गई। प्राचीन आनन्दवाद को 'उपयोगितावाद' का नया रूप दिया गया। परन्तु थोड़े ही समय बाद राज्य को सुदृढ आधार देने के लिए 'आदर्शवाद' का जन्म हुआ। रूसो कान्ट, हीगल आदि इसके प्रधान समर्थक हुए। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होने वाली दो क्रान्तियां (औद्योगिक एवं फ्रांसीसी) ने राजनतिक विचारों में गहरा परिवर्तन किया और उन्नीसवीं शताब्दी में व्यक्तिवाद, पूंजीवाद जनतन्त्रवाद राष्ट्रीयवाद (राष्ट्रवाद) आदि विकसित हुए। इनमें परस्पर कई विचारधाराओं का सहयोग है। उदाहरणार्थ व्यक्तिवाद में स्वतन्त्रता के अतिरिक्त उपयोगितावाद पूंजीवाद आदि का सहयोग है। जनतन्त्र और राष्ट्रवाद एक दूसरे के पूरक हैं। समाजवाद का विकास भी इसी प्रकार हुआ है। राष्ट्रवाद का उग्र रूप साम्राज्यवाद और इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीयवाद सघवाद आदि का जन्म हुआ है। स्थान और स्वभाव के अनुसार इन्हीं सिद्धान्तों के विभिन्न नाम भी दे दिए जाते हैं जैसे नाजीवाद फासीवाद आदि। अब हम इन्हीं आधुनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त अध्ययन करेंगे।

आधुनिक सिद्धान्तों का स्पष्ट विवेचन करने तथा समझने के लिए हम प्रत्येक सिद्धान्त को तीन भागों में विभाजित कर लेना चाहिये। प्रथम राज्य का आधार क्या है, दूसरा वर्तमान राज्य प्रणाली के दोष क्या हैं और तीसरा, नवीन सिद्धान्त किस प्रकार के साधनों से समाज का परिवर्तन करता हुआ कसी शासन व्यवस्था स्थापित करना चाहता है। इन्हीं तीन साधनों की सहायता से हम प्रत्येक सिद्धान्त को कसौटी पर परख सकेंगे। प्रत्येक सिद्धान्त का अलग अलग अध्ययन करने से पूर्व हम यह भी जान लेना उचित समझते हैं कि ये सिद्धान्त भी तीन श्रेणी

में विभाजित किये जा सकते हैं। पहले वे जो राज्य को अनावश्यक बुराई (Unnecessary evil) समझते हैं जैसे अराजकतावादी, गांधीवादी आदि, दूसरे वे जो राज्य को आवश्यक बुराई (necessary evil) समझते हैं और तीसरे वे जो राज्य को अच्छा समझते हैं।

अराजकतावाद—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य अनावश्यक बुराई है। समाज में सारे दोष राज्य के कारण ही उत्पन्न हुए हैं और इसी के द्वारा उनकी व्यवस्था भी है क्योंकि यह एक शक्ति की संस्था है और शक्ति कभी न्याय पर आधारित नहीं हो सकती। साथ ही शक्ति भ्रष्टाचार की ओर ले जाती है और अन्यायी बनाती है। असीमित शक्ति पतितकारक होती है (Power corrupts and absolute power corrupts absolutely) (What force has created force destroyed)। इसलिये अराजकतावादी राज्य का अस्तित्व ही नहीं मानते। राजकुमार क्रोपाटकिन और महात्मा टाल्सटाय आदि इसी के समर्थक थे। गांधी जी का सत्ताविहीन रामराज्य भी इसी श्रेणी में आता है। वर्तमान समाज के अन्त के लिए ये लोग दो तरह के विचार रखते हैं। एक क्रान्तिवादी—जो रक्त क्रान्ति द्वारा राज्य को समाज से हटाना चाहते हैं और दूसरे शान्तिवादी—जो प्रचार द्वारा नई व्यवस्था लाना चाहते हैं। भावी समाज के लिए इस सिद्धान्तवादियों का विश्वास है कि राज्यविहीन स्थिति में स्वतः स्वतन्त्र समुदाय होंगे और परस्पर सहयोग के आधार पर पूर्ण व्यवस्था बनेगी। इस सम्बन्ध में केवल एक उदाहरण बहुत लोकप्रिय है। वह यह है कि एक गाँव में यदि दस मकान बराबर खाली छोड़ दिये जायें तो वे स्वयं इतने सुन्दर ढंग से कम से कम स्थान में व्यवस्थित हो जायेंगे कि मानव प्रयास कभी कर भी नहीं सकता। इसी प्रकार समाजविहीन समस्याओं की अनुपस्थिति में मानव की समस्त संस्थायें स्वतन्त्र रूप से विकसित होंगी और व्यवस्थित भी रहेंगी। मानव का विकास भी उसी अवस्था में पूर्णरूपेण होगा। परन्तु यह सिद्धान्त अधिक व्यावहारिक नहीं रहा।

व्यक्तिवाद—इस सिद्धान्त के समर्थक राज्य को बुराई तो मानते हैं परन्तु आवश्यक भी समझते हैं। इसके समर्थन में वे आर्थिक, ऐतिहासिक, व्यावहारिक, दार्शनिक तथा प्राणिशास्त्रीय तर्क भी प्रस्तुत करते हैं। पर यह अवश्य मानते हैं कि राज्य का कार्य क्षेत्र बहुत सीमित होना चाहिए (Minimum Possible)। न्यूनतम कार्य राज्य द्वारा किये जायें और अधिकांश शेष व्यक्तियों के लिए स्वतन्त्र आचरण हेतु छोड़ दिये जायें। 'That government is the best which governs the least' कम से कम शासन करने वाली सरकार ही श्रेष्ठतम होती है। इस प्रकार के विचार व्यक्तिवादी सिद्धान्त के हैं। यह सिद्धान्त भी अधिक व्यावहारिक नहीं हुआ किन्तु महत्वपूर्ण आज भी समझा जाता है। इसका मुख्य कारण है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पोषक और राज्य की सर्वाधिकारिता का खण्डन करने वाला है जिसे सब लोग चाहते हैं।

उपयोगितावाद—यह सिद्धान्त राज्य का आधार उपयोगिता मानता है क्योंकि

राज्य नागरिकों के हित के लिए व्यवस्था करता है, सड़कें बनवाता है और सुरक्षा आदि की व्यवस्था करता है इसलिए यह आवश्यक है यह मान्य दवाद के सिद्धान्त स समर्थन प्राप्त करता है। सुख प्राप्त करना और दुःख से छुटकारा पाना प्रत्येक व्यक्ति चाहता है। इसलिए राज्य की संस्था उपयोगी है। राज्य इसीलिए वे सब कार्य करता है जिसका जनता के लिए उपयोग है। शिक्षा प्रबन्ध, सफाई, रोशनी आदि की व्यवस्था करना, उद्योग धन्धों का नियन्त्रण करना इसीलिए राज्य के कार्यक्षेत्र म आता है। किन्तु कुछ विद्वान इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि ऐसा सोचने से राज्य भी एक लाभकारी दुकान या समिति के रूप म मानी जाने लग जायगी और उसकी प्रतिष्ठा गिर जायगी अत यह सिद्धांत भी अधिक प्रचलित नहीं हो सका।

आदर्शवाद—इस सिद्धांत के अनुसार राज्य एक स्थायी तथा अत्यन्त उच्च संस्था है। नागरिक जन्म लेते और मर जाते हैं किन्तु यह अखण्ड रूप से प्रवाहित होने वाली सरिता की भाँति है। इसलिए मनुष्यों को राज्य के आधीन हो रहना चाहिए। इसके समर्थन म प्राणिशास्त्र के पिण्ड सिद्धांत का समर्थन प्राप्त किया जाता है। इसके मतानुसार राज्य पूर्ण शक्तिशाली संस्था है और रहनी चाहिए। आधुनिक काल के नाजीवाद, फासीवाद ने इस सिद्धांत का बहुत उपयोग किया है। ग्रीन, काट आदि इसके समर्थक हैं। उनका आदर्शवाद थोड़ा संशोधित रूप म है। ग्रीन के मतानुसार राज्य को आदर्श संस्था होने के कारण सुन्दर कार्य करने चाहियें। इसलिए नागरिकों की स्वतन्त्रता भी रहे और व्यवस्था भी बनी रहे। इस दृष्टि से नागरिक जीवन की रुकावटों को दूर करना ही राज्य का प्रमुख कार्य होना चाहिए (Removing the obstacles of civic life or hindering the hinderances)। यह सिद्धांत बहुत समय तक प्रभावशाली रहा और इसका यथावत् उपयोग अन्य कई सिद्धांतवादियों ने किया है।

समाजवाद—वर्तमान युग म यह सबसे अधिक प्रभावशाली और लोकप्रिय सिद्धांत है किन्तु इसका अब इतना विकास हो चुका है कि स्पष्ट संक्षिप्त व्याख्या संभव ही नहीं है। हमारे उपयोग के लिए हम इस प्रकार समझेंगे कि यह वह सिद्धांत है जो राज्य की सत्ता और समाज की सारी व्यवस्था समाज के ही हाथ म लाना चाहता है। इस समय समाजवादियों की मान्यता है कि राज्य पूँजीपतियों की संस्था है और समाज के सारे साधन इन्हीं पूँजीपतियों के हाथ में हैं। ये संख्या में बहुत कम हैं किन्तु शिक्षा, धर्म और राज्य के द्वारा ये सारे समाज पर छाये हुए हैं तथा जनता का शेष सारा भाग श्रमिक वर्ग का है जिनका ये शोषण करते हैं। औद्योगिक क्रांति के कारण ये वर्ग बिल्कुल स्पष्ट हो गए और इनमें गम्भीर प्रतियोगिता चल रही है। अत समाज का परिवर्तन आवश्यक है। साम्यवाद, (सिंडीकलीज्म) श्रम संघवाद, श्रेणीमूलक समाजवाद (Guild Socialism) आदि क्रांतिकारी विचारधाराएँ हैं जो रक्तमय क्रांति से परिवर्तन लाना चाहते हैं और समष्टिवाद (Collectivism or State Socialism), फेबियनवाद (Fab-

nism) आदि शान्तिमय साधनों से पार्लियामेन्ट आदि के द्वारा परिवर्तन लाना चाहते हैं। इन सभी विचारधाराओं को समाजवाद में सम्मिलित किया जाता है।

यहाँ तो प्रत्येक विचारधारा के समर्थक अनेक मिलते हैं और इनका प्रचार भी अलग अलग देशों में आरम्भ हुआ है किन्तु कार्लमार्क्स सबसे अधिक प्रभावशाली है। उसने अपने सिद्धान्त में कुछ बातें बड़ी महत्व की बताई हैं। पहली यह कि मानव के सम्पूर्ण इतिहास की आर्थिक विवेचना की जाय तो यह प्रकट होता है कि आर्थिक आधार ही मानव सभ्यता की नींव है। जब जब इसमें परिवर्तन हुआ मानव समाज का रूप भी बदला है। दूसरी यह कि समाज में हमेशा से वर्ग पद्धति रही है। पहले स्वामी और दास फिर सामन्त और कृषक और अब पूँजीपति और श्रमिक ये वर्ग हैं तथा सदैव एक वर्ग ने दूसरे का शोषण किया है। परन्तु अन्त में श्रमिक वर्ग ही विजयी होता है। तीसरी यह कि आज के औद्योगिक युग में समाज का आधार श्रमिक है और पूँजीपतियों ने राज्य, शिक्षा और धर्म नियन्त्रण में कर रखा है परन्तु यह अधिक समय नहीं चलेगा क्योंकि पूँजीपतियों की संख्या निरन्तर कम होती जा रही है और श्रमिक बढ़ते जा रहे हैं। साथ ही मशीनों के प्रयोग से मजदूरों की शक्ति और संगठन मजबूत हो रहे हैं अतः क्रान्ति अवश्य होगी और मजदूर विजयी होंगे (Workers have nothing to loose but their chains)। उन्हें केवल जंजीरों से मुक्ति मिलेगी यह मार्क्स का कथन है। इसके लिए रक्त क्रान्ति भी वह आवश्यक बताता है और उसके बाद अन्तिम काल के लिए नया समाज स्थापित करने हेतु वह श्रमिकों की तानाशाही भी चाहता है ताकि वर्ग विहीन और राज्य विहीन समाज निर्मित हो सके। यही मार्क्सवाद वास्तविक साम्यवाद है। परन्तु इस सिद्धान्त में पूर्ण सत्य नहीं जान पड़ता। रूस चीन आदि देशों में इस सिद्धान्त की मान्यता होने के कारण विश्व में इस समय विषम स्थिति हो रही है। केवल भविष्य ही बतायेगा कि किस विचारधारा की विजय होती है।

राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद— प्रारम्भ में व्यापारिक और अन्य प्रगति के कारण विकसित हुए प्रदेशों में उन्नतिशील देशों के नागरिक गए और अपना आधिपत्य जमा लिया किन्तु जब वहाँ भी जागृति हुई तब स्थानीय निवासियों ने अपनी भाषा, धर्म, साहित्य, इतिहास और भौगोलिक स्थितियों को समझा तथा अपनी एकता की भावना जाग्रत की और बाद में राजनैतिक दृष्टि से भी स्वतन्त्र होना चाहा। विशेष रूप से आर्थिक शोषण करने और इससे बचने के लिए राजनैतिक अधिकार बहुत प्रबल था। अतः राष्ट्रवाद का सिद्धान्त प्रचलित हुआ। एशिया, अमेरिका आदि सभी महाद्वीपों में बीसवीं सदी में यह प्रभावशाली रहा।

जब राष्ट्र स्वतन्त्र होकर बनने लगे तो प्रतियोगिता की दृष्टि से फिर भी कुछ पिछड़े भाग रह गए और उन्नतिशील देशों ने नए साधनों से जो राजनैतिक नहीं थे उन पर अपना प्रभाव जमाए रखा और उनकी उन्नति करने का उद्देश्य बताकर विश्व में ख्याति प्राप्त करने लगे। किन्तु इस युग में अधिक दिन

चलना सभव नही रहा। आविष्कारो और यातायात के साधनो से सारा विश्व एक ईकाई बन गया। अत स्वतन्त्र राष्ट्र स्वय पराधीन राष्ट्रो को स्वतन्त्रता देकर मित्र बनाने म लग गए। इस समय इसी दृष्टि से कि प्रत्यक राष्ट्र की क्रियाओ का प्रभाव समस्त विश्व पर होता है, अब अन्तर्राष्ट्रीयवाद और विश्व सघ के प्रस्ताव आ रहे है। लीग आफ नेशन्स तथा वतमान सयुक्त राष्ट्र सघ उसी दिशा म प्रथम चरण है जहाँ मानवता एक बनकर ही जीवित रह सकती है। अन्यथा नए आविष्कार एटम बम आदि के कारण मानव का अस्तित्व खतरे मे आ गया है।

गाधीवाद— गाधी जी ने कोई राजनतिक सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया है व कवल कमयोगी थे। परन्तु उनके विचारो म कई विरोधाभास होते हुए भी हम एकरूपता मिलती है, वही गाधीवाद कहा जाता है। अहिंसा की व्याख्या उनका प्रशसनीय दशन है और राजनैतिक अस्त्रो म निष्क्रिय विरोध (Passive resistance), असहयोग (*Non co operation*), *सविनय अवज्ञा आन्दोलन (Civil disobedience)* और सत्याग्रह मुख्य हैं। उनके रामराज्य की कल्पना अनुचित सत्तारहित वग विहीन, शोषण मुक्त, सुखी समाज क रूप म व्यक्त हुई है। ग्रामो को वास्तव म गणराज्यो का सक्षिप्त रूप बनाना चाहत थ। व राष्ट्रीयता क पोषक थ किन्तु यह सकुचित अथवा स्वाथमूलक नही थी। आर्थिक क्षेत्र म उनका प्रयास (ट्रस्टीशिप) का सिद्धान्त बहुत वैज्ञानिक था। वग युद्ध क स्थान पर व वगसमन्वय का सिद्धान्त प्रतिपादित करते थ। यह सिद्धान्त आज के युग म बहुत प्रभावशाली शान्तिकारक और महत्वपूण है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ अराजकतावाद पर एक सक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
२ राजनतिक विचारधारा से आप क्या समझते ह ? इसके विकास का विवरण लिखिए।
३ आदशवाद, व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का अलग अलग वणन कीजिए।
४ 'राष्ट्रवाद' की परिभाषा लिखिए और इसका साम्राज्यवाद से सम्बन्ध बताइये।
५ गांधीवाद पर एक निबन्ध लिखिए।

— ० —

पाचवा अध्याय

धर्म और दर्शन

प्रस्तावना— शास्त्रों के अनुसार धर्म का अर्थ है—'धारणाद्धर्म मित्याहु धर्मो धारयति प्रजा' अर्थात् एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ ऐसा बर्ताव जिससे सबका कल्याण हो। जिससे समाज के रूप में सामूहिक जीवन संचालित हो सके तथा ईश्वर की इच्छा के अनुकूल सृष्टि का प्रवाह चले सके उसे धर्म कहते हैं और संस्कृत भाषा में आध्यात्मिक ज्ञान को दर्शन कहते हैं। भारतवर्ष में दर्शन के मुख्य दो रूप स्वीकार किए गए हैं एक नास्तिक और दूसरा आस्तिक। नास्तिक का अर्थ है ईश्वर तथा आत्मा की सत्ता में श्रद्धा और विश्वास न होना तथा आस्तिक का अर्थ है ईश्वर एवं आत्मा के अस्तित्व और सत्ता को स्वीकार करना। इनके अतिरिक्त मुख्य मुख्य प्रतिपाद्यों और उनके आचार्यों के नाम के साथ सम्बन्ध रखने वाले अन्य भी प्रकार हैं। जैसे —

(१) **वैशेषिक दर्शन**—इसके आचार्य कणाद हैं तथा इसमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव इन सप्त पदार्थों का विवरण तथा निरूपण किया जाता है।

(२) **मीमांसा दर्शन**—आचार्य जैमिनी इस दर्शन के आचार्य हैं। इसमें कर्मकाण्ड को प्रधान रूप में स्वीकार किया गया है। यह दर्शन वेदों आदि के गम्भीर प्रश्नों की व्याख्या द्वारा स्पष्ट करने में सहायक होता है। व्याख्या के कारण इसका महत्व अधिक है।

(३) **वेदान्त दर्शन**—महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास इस दर्शन के आचार्य हैं। इस दर्शन का साहित्य विस्तृत है तथा इस दर्शन में ब्रह्म की अनुपम व्याख्या की गई है।

(४) **सांख्य दर्शन**—महर्षि कपिल इस दर्शन के आचार्य हैं। यह दर्शन प्रारम्भिक एवं अति प्राचीन समझा जाता है। इस दर्शन में दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों से छुटकारा पाने के मार्ग का निर्देशन किया गया है।

(५) **योग दर्शन**—महर्षि पातञ्जलि इस दर्शन के आचार्य हैं। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि योग क्या होता है और उसकी समस्त क्रियाओं का विस्तृत क्रमात्मक वर्णन इसमें किया गया है।

(६) **न्याय दर्शन**—इसमें न्याय के पाँच अंग स्वीकार किए गए हैं जो प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन हैं।

वास्तव में धर्म और दर्शन का ऐसा गहरा सम्बन्ध है कि एक के बिना दूसरे को समझना बहुत कठिन है। परन्तु एक की सहायता से दूसरे का ज्ञान प्राप्त करना

त्या, समझना उतना ही सरल भी है। धर्म का व्यापक अर्थ सदैव ही प्रत्येक जाति समाज अथवा देश के लिए स्वीकार योग्य होता है, किन्तु जब उसका अर्थ किसी एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए अथवा संकीर्ण क्षेत्र में उसका उपयोग करने के लिए किया जाता है तब वह शुद्ध धर्म न रहकर सम्प्रदाय बन जाता है। यहाँ हमें केवल धर्म का अध्ययन करना है। अतः धर्म का अर्थ हम उन निश्चित सिद्धान्तों से लेते हैं जो मानव प्रकृति के अनुकूल हैं तथा प्रत्येक देश, जाति, क्षेत्र अथवा समाज के लिए वे हितकर सिद्ध होते हैं। फिर भी यह सत्य है कि संसार में प्रचलित धर्मों को यदि इसी कसौटी पर परीक्षा की जाय तो यह ज्ञात होगा कि अधिकांश धर्म इस परीक्षा में पूरे नहीं उतरते। इसका अर्थ यह होगा कि कुछ अभाव अथवा दोष भी धर्मों में दिखाई देते हैं। ये दोष देश और काल की गति के अनुसार भी प्रकट और लुप्त होते हैं। हमारा भारतवर्ष विश्व के अधिकांश धर्मों की जन्मभूमि रहा है। अतः हमारे लिए मुख्य मुख्य धर्मों का संक्षिप्त ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। इनमें हिन्दू धर्म, बुद्ध धर्म, जैन धर्म, ईसाई धर्म तथा मुसलमान धर्म मुख्य हैं।

(१) हिन्दू धर्म—हिन्दू धर्म नाम प्रारम्भिक पारसीकों का दिया हुआ है। इसका कारण यह है कि हमारा यह धर्म सिन्धु नदी की घाटी के साथ सम्बद्ध है और वे लोग 'सिंध' का उच्चारण 'हिंद' करते थे। सिन्धु तटवर्ती क्षेत्र को हिन्द और यहाँ के निवासियों को हिन्दू कहते थे। इसीलिए इस धर्म का नाम भी हिन्दू धर्म हो गया। 'स' को 'ह' बोलने की प्रथा राजस्थान के मेवाड़ प्रदेश तथा मध्य प्रदेश के उत्तरी भाग (मालवा) में आज भी प्रचलित है जहाँ 'सवा सात आना' का 'हवा हात आना' और "साबू जी" को 'हाबू जी' बोला जाता है। फिर यूरोप निवासियों ने यहाँ आकर इसे 'हिन्दूइज्म' कर दिया और आज यह शब्द दीर्घकाल से प्रचारित हो रहा है। कुछ लोग इसे आर्यों का धर्म भी कहते हैं। कुछ भी कहें यह धर्म भारत की बहुत बड़ी विशेषता है। इस धर्म को किसी एक व्यक्ति या महर्षि ने नहीं चलाया, वरन शताब्दियों तक निरन्तर प्रयत्नशील रहने के बाद अनुभवों से स्थापित किए गए शाश्वत सिद्धान्तों का संग्रह है। आर्य लोगों की यह विशेषता रही कि उन्होंने कभी भी किसी धर्म का विरोध नहीं किया। इस क्षेत्र में भारतवर्ष और विशेष तौर पर हिन्दू धर्म अपनी सहिष्णुता के लिए विख्यात है। समय समय पर आने वाली जातियों के धर्म और विचार को भी यह धर्म ग्रहण करता रहा। अतः हिन्दू धर्म बहुत व्यापक बन गया। आज इस धर्म की विशद व्याख्या के लिए बड़े बड़े ग्रन्थों की रचना आवश्यक है। यहाँ हम केवल हिन्दू धर्म के मुख्य पक्षों का संक्षिप्त अध्ययन करके ही संतोष करेंगे।

हिन्दू धर्म सार्वदेशीय, स्वाभाविक और सार्वजनिक माना गया है। इसीलिए अनेक उथल पुथल, क्रान्ति शान्ति एवं आवर्तन परिवर्तन के पश्चात भी हिन्दू धर्म जीवित और प्रभावशाली है। यह धर्म समाज के दैनिक जीवन और व्यवहार से इतना एकाकार कर गया है कि धर्म को दूसरी संस्थाओं से पृथक करना कठिन समस्या बन गई है। फिर भी हिन्दू धर्म की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाय तो हम

दर्शन कि उनमें दो बातों की प्रधानता है —

(१) परमात्मा या परमतत्व अनन्त है और वही हमारा मुख्य लक्ष्य है, उसमें दृढ़ विश्वास तथा (२) उस सत्ता की आध्यात्मिक में सहायक एवं सुव्यवस्थित आचार पद्धति की स्थापना। इन सिद्धान्तों में किसी अन्य धर्म के समान आग्रह करने वालों में हिन्दू धर्मियों का कोई समर्थन नहीं होता। इसीलिए यह धर्म सहनशीलता वाला कहा जाता है।

हिन्दू धर्म का स्वरूप— साधारणतः पुनर्जन्म और अवतारवाद के सिद्धान्त हिन्दू धर्म में स्वीकार किए जाते हैं। पर न इसका कोई आकार और न इसका स्वरूप माना गया है। कई प्रकार के विरोधी विचार भी एक ही साथ हिन्दू धर्म में स्थान पाते हैं। एक ईश्वर की सत्ता मानने वाले आस्तिक और न मानने वाले नास्तिक कहलाते हैं। ईश्वर का स्वरूप मानने वालों में भी उसके भिन्न स्वरूपों की मान्यता के अनुसार, निर्गुण निराकार, सगुण-साकार तथा सगुण निराकार कहलाते। तत्पश्चात वाद भी विभिन्न रूप में सम्प्रदायों में विभक्त हो गये हैं। ये वास्तव में वेदान्त के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के नाम हैं —

(१) अद्वैतवाद—यह भगवान शंकराचार्य का चलाया हुआ वाद है। ये ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या वाले सिद्धान्त को मानते हैं। ईश्वर या ब्रह्म निर्विकार तथा निर्गुण है। जगत् जीव उससे भिन्न नहीं है। संसार केवल नाम और रूप है। माया अनिर्वचनीय है। ज्ञान प्राप्त होने से माया का नाश हो जाता है। केवल ब्रह्म ही सत्य है। ईश्वर पूजा में उनका विश्वास है तथा उपासना भक्ति और आचार का महत्व स्वीकार करते हैं।

(२) विशिष्टाद्वैतवाद—यह महाप्रभु रामानुजाचार्य का चलाया गया है। उनका ब्रह्म चित् अचित् विशिष्ट है। इसलिए विशिष्टाद्वैतवाद कहलाया। संसार में जीव अंश समझा गया और बुद्धि की महत्ता बढ़ गई। जीव भी नित्य सत्य एवं ब्रह्म है और उनका कोई व्यवहार बन्धन में नहीं आ सकता। विश्वप्राण आदि ईश्वर व्यवहार और कल्याण है और तदनुसार उपासना आदि प्रधान। ब्रह्म के चेतन अंश से चित् (जीव) और अचेतन से जड़ (प्रकृति) उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्म जगत् का कारण है और जीव भी ब्रह्म का ही अंश है। जीव और ब्रह्म दोनों चेतन हैं। मुक्ति ब्रह्म की कृपा से ही मिलती है।

(३) विशिष्टाद्वैत मत शरणागति—यह प्रपत्ति का मार्ग है। इसके अनुसार शास्त्र के अनुकूल कार्य श्रेय तथा प्रेय तथा प्रतिकूल कार्य त्याज्य हैं। शास्त्र ईश्वराज्ञा हैं। बाद में इसी बात से नित्य-पूजन पर और विष्णुपूजन वन्दन पर जोर देने लगे।

(४) द्वैतवाद—यह महाप्रभु (माधव) मध्वाचार्य द्वारा चलाया हुआ है। ये ब्रह्म और जीव को एक नहीं मानते दोनों पृथक सत्ताएँ हैं। जगत भी मिथ्या नहीं है। ज्ञान चिंतन से प्राप्त होता है। ब्रह्म शास्त्रगम्य है। जीव को मुक्ति प्राप्ति के लिए ध्यान धारणा समाधि साधना का प्रयोग करना चाहिए।

किया। इस समय यहूदियों में इसायाह (Isaiah), चीन में कन्फ्यूशियस और लाओत्से (Lao tse) और भारत में गौतम बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०) हुए। ये कपिलवस्तु के राजा शुद्धोधन के पुत्र थे। वैशाख की पूर्णिमा के दिन इनका जन्म हुआ था इसलिए इस पूर्णिमा को बुद्ध पूर्णिमा भी कहते हैं। इनकी पत्नी यशोधरा तथा पुत्र राहुल था। बुद्ध (सिद्धार्थ) आरम्भ से ही विचारशील थे और सदैव ध्यान में लीन रहते थे। कुछ घटनाओं की इनके जीवन पर ऐसी प्रतिक्रिया हुई कि इनके मन में यह धारणा बैठ गई कि यह संसार दुःख का आगार है और मनुष्य को इससे मुक्त होने का यत्न करना चाहिए। राज्य का काम, पारिवारिक जीवन, पत्नी तथा पुत्र का मोह इनके चिन्तन के पथ में न टिक सके और एक रात्रि को अचानक गृहत्याग कर संन्यास ग्रहण कर लिया और जंगल की ओर चल दिए। अनेक विद्वानों से सम्पर्क स्थापित करते हुए भ्रमण करते रहे। अलारा के आलार कालाम और राजगृह के रुद्रक की शिष्यता भी ग्रहण की किन्तु इन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उरुवेला के जंगल में ६ वर्ष तक पाँच ब्राह्मण संन्यासियों के साथ तपस्या की परन्तु संतोष प्राप्त नहीं हुआ। अन्त में असन्तोष की अवस्था में ही ये बोध गया पहुँचे। एक दिन जबकि ये बोधि-वृक्ष के नीचे बैठे ध्यान लगा रहे थे इन्हें बोधि-ज्ञान की प्राप्ति हो गई। तभी से ये बुद्ध तथा इनके अनुयायी बौद्ध तथा इनके सिद्धान्त बौद्धधर्म के नाम से प्रचारित हुए। सारनाथ (वाराणसी के पास) में भगवान बुद्ध ने अपना पहला व्याख्यान दिया जिसे 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' कहते हैं। ई० पू० ४८३ ई० में कुशीनारा में महात्मा जी का स्वर्गवास हुआ जिसे निर्वाण कहते हैं।

बौद्धधर्म के आधारभूत सिद्धान्त—यह धर्म वास्तव में मुख्य रूप से नीति शास्त्र की ऐसी पद्धति कहा जा सकता है जिसके द्वारा सत्य विचार और सत्य आचरण का अभ्यास होता है। बौद्धधर्म में प्रमुख रूप से निम्नलिखित सिद्धान्त हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) **चार सर्वोच्च सत्य**—प्रथम जीवन दुःखमय है, दूसरा जीवन और सुखों की लालसा दुःख का प्रमुख कारण है, तीसरा इस इच्छा के नष्ट हो जाने से दुःख का नाश हो जाता है और चौथा यह इच्छा या लालसा पवित्र जीवन से नष्ट हो जाती है अर्थात् निर्वाण प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार दुःख, दुःख का कारण, दुःख का निवारण तथा दुःख के निवारण का मार्ग ये चार सत्य हैं। इनका मत है कि निर्वाण इसी संसार में प्राप्त हो सकता है। अविद्या का नाश एवं ज्ञान की प्राप्ति ही निर्वाण है। इस लालसा को समाप्त कर देना चाहिए तथा इसके निवारण के लिए शुद्ध विचार, पवित्र कर्म, उत्तम भावना तथा शान्ति आवश्यक है। बौद्धधर्म की नीति के अन्तर्गत दस आदेश भी हैं जिनमें जीव को मत सताओ, चोरी मत करो, व्यभिचार मत करो, असत्य मत बोलो, नशा मत करो आदि मुख्य हैं।

(२) **अष्टांग मार्ग**—सांसारिक कष्टों से मुक्त होने के लिए निम्न आठ मार्ग निर्धारित किए गए हैं—(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक्

वाक् (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक् आजीविका (६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति (८) सम्यक् समाधि। इस मार्ग को मध्यम मार्ग भी कहा है। क्योंकि इसमें अधिक कष्टप्रद तप, यज्ञ आदि का त्याग किया है और सांसारिक भोग विलास आदि का बहिष्कार किया गया है। इस मार्ग के अनुसरण से कोई विशेष कष्ट न होते हुए मुक्ति प्राप्त हो जाती है इसलिए इसे मध्यम मार्ग की संज्ञा दी गई है।

(३) कर्मवाद—जैसा कर्म करोगे वैसा फल मिलेगा—यह सिद्धान्त कर्मवाद है। महात्मा बुद्ध का इसमें विश्वास था। परन्तु वे बलि और यज्ञ को अच्छा नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि हम इन साधना से बुरे कर्मों को अच्छा नहीं बना सकते और न पूर्व जन्म के पाप ही धो सकते हैं। मुक्ति तो इसी जीवन में अच्छे काम करने से मिल सकती है।

(४) नास्तिकवाद—महात्मा बुद्ध ईश्वर का अस्तित्व नहीं मानते थे। इस विषय में वे उदासीन थे। उनका विश्वास था कि कार्य और कारण की प्रतिक्रिया से सृष्टि का सृजन होता है, किसी सत्ता के द्वारा नहीं। अतः यह अनीश्वरवादी सिद्धांत है।

(५) आत्मा और पुनर्जन्म—बुद्ध के मतानुसार आत्मा पाँच स्कन्धों का समुदाय है जिसमें विज्ञान स्कन्ध की प्रधानता है। इसे पुग्गल या 'पुद्गल' भी कहते हैं तथा ये पाँच स्कन्ध रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान कहे गए हैं। विज्ञान स्कन्ध को आत्मा का स्थान दिया जा सकता है परन्तु आत्मा की अमरता में वे विश्वास नहीं करते इसे 'जरा' माना है। पुनर्जन्म को बुद्ध मानते थे किन्तु इस रूप में कि अनित्य अहंकार तथा तृष्णा का अपने कर्म के अनुसार नया जन्म होता है।

(६) अहिंसा—अहिंसा परमो धर्म बुद्ध धर्म की प्रमुख विशेषता मानी जाती है। प्राणी मात्र को पीड़ा पहुँचाना अपराध है। इसलिए उन्होंने अहिंसा के पालन पर बल दिया था।

उपरोक्त मूल सिद्धान्तों के अतिरिक्त हिन्दू धर्म के वर्णाश्रम में इनका विश्वास नहीं था। वेदों को ईश्वरीय ज्ञान के रूप स्वीकार नहीं किया। मूर्तिपूजा को अनुचित एवं अनावश्यक समझता था। यद्यपि हम देखते हैं कि बाद में इस धर्म में भी मूर्तिपूजा (बुद्ध की पूजा) आरम्भ हो गई।

बौद्ध धर्म का प्रसार—यह धर्म भारतवर्ष में तो शीघ्र फैल ही गया, विदेशों तक में भी व्याप्त हो गया था। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित समझे जा सकते हैं —(१) महात्मा बुद्ध स्वयं एक आकर्षक व्यक्तित्व से युक्त उच्चकोटि के द्रष्टा थे जिनका सम्पर्क जादू का सा प्रभाव करता था। (२) अभी तक हिन्दू धर्म का ज्ञान व उपदेश संस्कृत भाषा में होते थे जो दुरूह और कष्टसाध्य होते थे। इस धर्म के सिद्धांत सरल और भाषा सुबोधगम्य थी जिसे साधारण से साधारण व्यक्ति भी समझता था। (३) धर्म की प्राचीन तथा समय के विपरीत प्रचलित रूढ़ियों का खण्डन किया। (४) जाति भेद एवं जन्म से जाति का संबंध होने से

विश्वास नहीं करते थे। वे कहते थे मनुष्य कर्म से ऊँच नीच बनता है जन्म से नहीं। (५) वे ईश्वर, आत्मा, जीवन-मरण आदि गम्भीर विषयों का विवेचन नहीं करते थे। (६) उच्च वर्ग के लोग जैसे सम्राट अशोक, हर्ष आदि का पूर्ण सहयोग मिला और (७) इसका विरोध करने वालों के सर्वथा अभाव के कारण यह द्रुतगति से फैल गया। इन कारणों से शीघ्र ही बौद्ध धर्म लोकप्रिय बन गया और धीरे धीरे नेपाल, तिब्बत, चीन, मंगोलिया, कोरिया, जापान, मलाया, लंका, अफगानिस्तान, मेसोपोटामिया आदि देशों तक इसका प्रचार हो गया।

अवनति के कारण—अनेक कारणों में से कुछ कारण निम्नलिखित माने जा सकते हैं—(१) हिन्दुओं ने हिन्दू धर्म का प्रभाव कम होता देखकर बुद्ध को भी विष्णु का नवाँ अवतार मान लिया जिससे बौद्ध जनता का ध्यान पुनः हिन्दू धर्म की ओर खिंचा गया। दोनों धर्मों में एकरूपता सी स्थापित हो गई। कथाएँ एक सी प्रचलित हो गईं अतः दोनों धर्मों में भेद करना कठिन हो गया। (२) बौद्ध धर्म का अहिंसावाद उच्च व सुन्दर आदर्श तो था किन्तु व्यवहार योग्य नहीं था। राजाओं को युद्ध करने [illegible]। साधारण जनता सदाचार का जीवन में कुछ कठिनाई अनुभव करती थी। (३) इसके अतिरिक्त हिन्दू धर्म के स्तम्भ ईश्वरवाद और वेदों की महत्ता का खण्डन अथवा इनके प्रति उदासीनता भारतवर्ष की जनता जनार्दन को रुचिकर नहीं हुआ और फिर शंकराचार्य के अवतरित हो जाने पर तो बौद्ध धर्म अस्त सा हो ही गया। (४) बौद्ध धर्म में भी कुछ निहित दोष अवनति के लिए उत्तरदायी हैं। इसमें अनेक सम्प्रदाय हीनयान महायान आदि की स्थापना से नए मत उत्पन्न हुए धर्म की एकता घटने लगी। बाह्य आडम्बर अधिक आ जाने से लोगों का विश्वास कम होने लगा। बौद्ध भिक्षु भी चरित्रवान और निर्लोभी न रह सके। मठों और विहारों में व्यभिचार बढ़ने लग गया। इसके अतिरिक्त राजाओं के शासकों का समर्थन बाद के समय में नहीं मिला। (५) अन्त में विदेशियों के आक्रमण भी इसके पतन का एक कारण बन गये। मुसलमानों ने विहार नष्ट कर दिए शिक्षा केन्द्र समाप्त कर दिए भिक्षुओं की हत्याएँ कर दीं बचे हुए विदेशों में चले गए और शेष लोगों ने हिन्दू धर्म की शरण ली।

बौद्ध धर्म का महत्त्व—इस धर्म की अनेक विशेषताएँ भारतवर्ष के लिए अनेक देन हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—(१) भारतवर्ष में सामाजिक समानता की स्थापना (२) राजनैतिक क्षेत्र में राजा और प्रजा का सम्बन्ध पिता पुत्रवत सिद्ध एवं स्थापित करने में इस समय के राजाओं ने बहुत तत्परता दिखाई। गणतन्त्र राज्यों का प्रारम्भ हुआ परन्तु राजतन्त्र भी विद्यमान रहे। इस प्रकार लोकतान्त्रिक भावना का प्रसार हुआ (३) सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से भारतवर्ष को 'एक राष्ट्र' की भावना के लिए बल मिला, (४) मठ प्रथा का आरम्भ इसी समय से हुआ था। ब्राह्मण काल की कट्टरता मिटाने में शिक्षा को लोकप्रिय बनाने में

तथा भारतवर्ष का दूसरे देशों से सम्बन्ध जोड़ने में बौद्ध धर्म ने अद्भुत कार्य किया है। इसी कारण बाद में व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध भी स्थापित हो सके। यात्रियों का आदान प्रदान हुआ। यह भी कुछ लोगों का मत है कि मूर्तिपूजा भी इसी समय आरम्भ हुई इसलिए मूर्ति और मन्दिरों के चलन के साथ विहार चैत्य तथा स्तूप आदि की कला के विकास का श्रेय भी इसी धर्म को दिया जाता है (५) इस धर्म ने अद्भुत साहित्य प्रदान किया जो साधारण जनता की भाषा में सुबोध रूप में सुलभ हुआ। इस साहित्य को तीन भागों में बांटते हैं जिन्हें त्रिपिटक कहते हैं। विनयपिटक सुत्तपिटक एवं अभिधम्म पिटक इनके अलग अलग नाम हैं। इसी प्रकार जातक ग्रन्थों का स्थान और भी महत्त्वपूर्ण है। इनमें बुद्धदेव की पूर्वजन्म की ५५० कथायें हैं और उन्हें २१ भागों में संकलित किया गया है।

इस प्रकार बौद्धधर्म महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादन करके अपनी महत्त्वपूर्ण देन देश को अर्पित कर शान्त हो गया। वर्तमान समय में भारतवर्ष में कुछ बौद्ध शेष हैं। दूसरे देशों में जैसे चीन ब्रह्मा तिब्बत, जापान लंका आदि में अभी इनकी संख्या बहुत है। जहाँ साम्यवाद का प्रसार हो रहा है वहां से तो सभी धर्म कूच कर रहे हैं। इस प्रकार भारतवर्ष में, जहां बौद्ध धर्म का जन्म हुआ था, अब कहीं शेष नहीं रहा।

जैन धर्म—यह धर्म बौद्ध धर्म की अपेक्षा बहुत प्राचीन माना जाता है। इस धर्म के अब तक २४ तीर्थंकर माने जाते हैं जिनमें ऋषभ देव प्रथम एवं वर्द्धमान महावीर अन्तिम माने जाते हैं। अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा महावीर स्वामी का योग इस धर्म में सर्वाधिक माना गया है। इनका जन्म वैशाली के निकट एक क्षत्रिय परिवार में हुआ था। इन्होंने भी लगभग ३० वर्ष की आयु में अपनी पत्नी और परिवार को त्याग दिया था और वर्षों तक भ्रमणशील सन्यासी जीवन व्यतीत करते रहे तब इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। तत्पश्चात लगभग ३० वर्ष तक गंगा के मैदान में पर्याप्त पर्यटन करते हुए लोगों को उपदेश देते रहे। बिम्बसार और अजातशत्रु जो मगध के शासक थे इनसे बहुत घनिष्ठ थे। अन्त में ई० पू० ४६७ में राजगृह के निकट इनका देहावसान हो गया।

सिद्धान्त—बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म भी जनता को आकर्षक लगा था। जैन धर्म का विश्वास है कि ईश्वर संसार का कर्त्ता नहीं है। संसार अनादि और अनन्त है। परन्तु ये लोग आत्मा की अमरता एवं अस्तित्व में विश्वास करते हैं। आत्मा पर कर्मों का प्रभाव पड़ता है। ये वेदों को तो नहीं मानते परन्तु अनात्मावादी भी नहीं हैं। जीवन की एकता में विश्वास करते हैं और यह भी मानते हैं कि जड़ में भी जीवन होता है। उनके अनुसार छः जीवन श्रेणियाँ थीं—पृथ्वी वायु जल, तेज, वनस्पति एवं त्रस। सृष्टि अनादि है किन्तु इसके संचालन के लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। आत्मा कर्मानुसार भ्रमण कर संसार-चक्र में रहता है तथा तपस्या और ज्ञान द्वारा इस चक्र से मुक्त हो जाता है। ऐसा कैवल्य प्राप्त आत्मा तीर्थंकर हो जाता है और ऐश्वर्यान्वित भी हो जाता है। मोक्ष पर जैन धर्म बहुत बल

देता है तथा इसके लिए तीन साधन—सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन एव सम्यक चरित्र भी निर्धारित करता है। इन्हे त्रिरत्न भी कहते हैं। पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिए 'पच महाव्रतो' का प्रतिपादन किया गया है—अहिंसा, सत्य अस्तेय अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। तपस्या को भी जैन धर्म मे बहुत महत्त्व दिया है। यह बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार की मानी गई है। पहली तपस्या मे अनशन, चान्द्रायण व्रत भिक्षाचर्या, रस परित्याग कायक्लेश और सलीनता (शरीर सेवा) तथा दूसरी तपस्या मे विनय, सेवा प्रायश्चित्त, स्वाध्याय, ध्यान और शरीर त्याग सम्मिलित हैं। सबसे अधिक जोर इस धर्म मे अहिंसा पर ही दिया गया है। यज्ञ बलि एव अनुष्ठान को ये भी अच्छा नही मानते। इस प्रकार जैन धर्म ईश्वर और आत्मा कर्मवाद तथा विषयो के दमन का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।

जैन धर्म का महत्त्व—बौद्ध धर्म की भाति जैन धर्म भी भारतवर्ष के सामाजिक एव धार्मिक जीवन मे अपना विशेष स्थान रखता है। अत्यन्त शान्तिमय सिद्धात होने के कारण अधिकाश समृद्धिशाली लोगो ने ही इसे अपनाया। इस धर्म ने हिन्दू धर्म का विरोध भी नही किया और समाज को भी नहीं छोड़ा। समाज मे रह कर वे सुख और शाति व्याप्त करना चाहते थे इसीलिए चिकित्सालय धर्मशालायें दान, मन्दिर निर्माण आदि कार्य मे ये लोग सलग्न हुए। साहित्य पर भी जैन धर्म का प्रभाव हुआ। जैन महाकवि त्रिलोचर आज भी प्रसिद्ध हैं जिसने दर्शन तर्क व्याकरण कहानियां कविता आदि सब पर अनेक ग्रथ लिखे हैं। भवन निर्माण के कार्य द्वारा वास्तुकला की भी उत्कृष्ट उन्नति हुई चित्रकला तथा पच्चीकारी के कार्य भी आगे बढे। तत्कालीन हस्तलिखित पुस्तको की लिपि एव चित्रकला आज भी आश्चर्य मे डाल देती हैं।

बौद्ध धर्म की भाति बाद मे जैन धर्म भी दिगम्बर और श्वेताम्बर दो शाखाओ मे विभाजित हो गया और इसका मुख्य केन्द्र भी गगा की घाटी मे हट कर मथुरा, उज्जैन गुजरात आदि की ओर हो गया। वर्तमान समय मे प्राचीन जैन साहित्य के प्रकाशन तथा मन्दिरो आदि के पुनर्निर्माण द्वारा जैन धर्म चेतन्य हो रहा है।

ईसाई धर्म—जिस समय रोम साम्राज्य मे प्रथम सम्राट आगस्टस सीजर शासन कर रहा था, उस समय जीसस (Jesus) जो ईसाई धर्म का आदर्श है का जन्म जूडिया (Judea) मे हुआ था। उसके नाम पर ही उस धर्म का उदय होने वाला था जो सम्पूर्ण रोम साम्राज्य का अनिवार्य रूप से राजधर्म होना। हमारे जगत के अधिकाश लोगो की धारणा है कि जीसस उस सम्पूर्ण विश्व के ईश्वर का अवतार था जिसे सर्वप्रथम यहूदियो ने स्वीकार किया था। इतिहासकार इस विचार को मान्य अथवा अमान्य घोषित करने मे असमर्थ हैं।

जीसस जूडिया मे टाइबेरियस (Tiberius) सीजर के राज्यकाल मे प्रकट हुये। वे मसीहा थे। उन्होंने उनके पूर्ववर्ती यहूदी मसीहाओ की भाति ही उपदेश दिये। यह कार्य उन्होंने लगभग तीस वर्ष की आयु मे आरम्भ किया था। इसमे

पूर्व जीसस का कैसा जीवन था, पूर्ण रूप से अज्ञात है। उनके जीवन तथा उपदेशों के सम्बन्ध में हम जो साधन प्राप्त हैं, वे केवल चार सिद्धान्त हैं। वे चारों एकमत होकर हमें उस व्यक्तित्व का ज्ञान कराते हैं और तब हमें कहना पड़ता है कि "यह व्यक्ति वास्तव में था कल्पना नहीं हो सकती" अन्य धर्मों की भांति ईसाई धर्मावलम्बियों ने भी ईसामसीह का चित्र विचित्र रूप में उपस्थित कर दिया है। परन्तु वे वास्तव में ऐसे नहीं थे जैसे महात्मा बुद्ध की मूर्तियाँ तक बनने लगीं और मूर्ति का वास्तविक व्यक्तित्व से शत प्रतिशत समानता का सम्बन्ध नहीं रहा था, ऐसा ही ईसा मसीह के साथ भी हुआ।

ईसा मसीह (Jesus) एक निर्धन अध्यापक थे जो जूदिया के रेगिस्तान में भ्रमण करते थे और यदाकदा जो भिक्षा के रूप में भोजन मिलता था उससे जीवन निर्वाह करते थे। इसलिये इनका चित्र स्वच्छ वेषभूषा में सुन्दरता के साथ प्रस्तुत करना भूल है। वे बड़े दयालु, गम्भीर तथा उत्सुक (उत्कण्ठित), तीव्र स्वभावी जीव थे तथा एक नया, सरल और गम्भीर सिद्धान्त—ईश्वर का सार्वजनिक स्नेहमय पितृत्व (Universal loving Fatherhood of God) तथा स्वर्गिक साम्राज्य का अवतरण (Kingdom of Heaven) का उपदेश देते थे। वे सामान्य भाषा का प्रयोग करते थे परन्तु उनका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक था। उनके अनुयायी स्वयं आनन्दित होते थे और वे उन्हें स्नेह तथा उत्साह से आप्लावित कर देते थे। निर्बल और रोगी उनके पास आकर सक्षम और स्वस्थ हो जाते थे तो भी यह सच है कि उनका शरीर निर्बल ही था। यह प्रसिद्ध है कि जब प्रचलित प्रथानुसार उनके वक्ष पर क्रास रक्खा गया तो वे मूर्च्छित हो गये। उन्होंने अपने प्रदेश के आस पास केवल तीन वर्ष ही अपने धर्म का प्रचार किया और फिर जेरूसलम आ गये जहाँ उन पर जूदिया में विचित्र राज्य स्थापित करने का दोषारोपण किया। इस दोषारोपण की न्याय परीक्षा हुई और दो चोरों के साथ उन्हें प्राणदण्ड सुनाया गया।

ईसामसीह के सिद्धान्त—महात्मा ईसा का स्वर्गिक साम्राज्य का सिद्धान्त उनका मुख्य उपदेश था और अभी तक के प्रचलित सिद्धान्तों में जिन्होंने कुछ भी हलचल और मानवीय विचारों में परिवर्तन किया है, अवश्य ही अत्यन्त क्रांतिकारी सिद्धान्त है। यह खेद की बात है कि उस समय की जनता उनके इतने महत्त्वपूर्ण उपदेशों को न समझ सकी थी। केवल इस शंका मात्र से ही कि तत्कालीन स्थापित परम्पराओं के प्रति यह एक चुनौती थी यह अपराध हुआ। वास्तव में यह सिद्धान्त मानव जाति के लिए साहसी और परिवर्तनकारी उपदेश था। ईश्वर परम पवित्र और न्यायी है। उनके मतानुसार ईश्वर व्यापारी नहीं है इस स्वर्गिक साम्राज्य में न कोई उच्च है और न कोई कृपा पात्र। ईश्वर समस्त प्राणियों का जीवित पिता है और सूर्य की भाँति अपनी कृपा बताने योग्य नहीं है। समस्त मानव मात्र परस्पर भाई हैं और पापी तथा पुण्यात्मा, उस परम पिता के लिए सब समान हैं। कुछ दृष्टान्तों में यह भी प्रकट किया गया है। महात्मा ईसा ने इस प्रवृत्ति की बड़ी

नम्रता की थी कि हम अपनी तथा अपने जनों की बहुत प्रशंसा तथा दूसरी जातियों की निन्दा करने में लग जाते हैं। समरिया से सम्बन्धित दृष्टान्त में, उन्होंने यहूदियों का यह दावा कि वे ईश्वर से कुछ विशेष अधिकार पाने के योग्य हैं ठुकरा दिया था। उनका मत था कि वे सब जो परमेश्वर के राज्य में हैं परमेश्वर उन सब के लिए एकसा है। उसके व्यवहार में कोई अन्तर नहीं होता क्योंकि उसकी उदारता की कोई सीमा नहीं है। वह प्रत्येक व्यक्ति से अपनी योग्यतानुसार कर्तव्य पालन चाहता है। उसके राज्य में कोई विशेषाधिकार कोई छूट और कोई बन्धन नहीं हैं।

यहूदियों को महात्मा ईसा से यह भय था कि उनके पारिवारिक सुदृढ़ संगठनों और उनके प्रति प्रेम की गहराई में अन्तर आ जावेगा और वह सर्वव्यापक विश्व प्रेम की धारा में परिवार आदि की संकीर्ण मनोवृत्तियों का बहना न जाने योग्य था। उनका सम्पूर्ण ईश्वरीय साम्राज्य उनके अनुयायियों में ही भरा जाना चाहिए। महात्मा ईसा ने इस प्रकार स्थानीय राष्ट्र प्रेम की सीमा और पारिवारिक आसक्ति बन्धनों को समाप्त कर दिया और मानव भ्रातृत्व तथा ईश्वरीय पितृत्व की पवित्र भावना का प्रसार किया। यही नहीं आर्थिक क्षेत्र में व्याप्त धन मद की निन्दा की, निजी सम्पत्ति को बुरा बताया और व्यक्तिगत लाभ धन की प्रवृत्ति का दमन का प्रयत्न किया। उनका विश्वास था कि मानव मात्र साम्राज्य में सम्मिलित हैं और उनकी सारी सम्पत्ति साम्राज्य की है। सब मनुष्यों के लिए केवल पवित्र जीवन ही रहने योग्य है और इसका सम्बन्ध उसी भगवान की सत्ता में अर्पित था। व्यक्तिगत सम्पत्ति और निजी जीवन की स्वार्थपरता को उन्होंने सर्वथा बुरा बताया। यह कहा जाता है कि एक व्यक्ति उनके चरणों में गिर कर यह प्रार्थना करने लगा कि 'स्वामी मैं क्या करूँ जिससे मैं अमर हो जाऊँ।' महात्मा ईसा ने उससे कहा 'मुझे स्वामी क्यों कहते हो। विश्व का स्वामी केवल एक है वह परमपिता। आपको इसका आज्ञा का ज्ञान है कि (१) व्यभिचार न करो (२) हिंसा न करो (३) चोरी न करो (४) असत्य साक्षी न दो (५) छल न करो और (६) माता पिता का सम्मान करो।' उस व्यक्ति ने उत्तर दिया 'स्वामी यह तो सब मैं अपने यौवनकाल से ही करता आ रहा हूँ।' तब महात्मा ईसा ने उसे स्नेहमयी दृष्टि से निहारा और कहा 'आपमें एक अभाव है, पुनः जाइए और आपके पास जो कुछ है सब विक्रय करके निर्धनों में वितरित कर दीजिए तो स्वर्ग में आपके लिए कोष भर जाएगा। तब आप आकर क्रास धारण करके मेरा अनुसरण कीजिए।' तब वह बड़ा उदास हो गया क्योंकि उसके पास अपार सम्पत्ति थी। वे स्पष्ट कहा करते थे कि सुई के छिद्र में से ऊँट का निकलना तो सरल है परन्तु सम्पत्तिशालियों का स्वर्ग द्वार में प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन है।

महात्मा ईसा ने केवल नैतिक एवं सामाजिक क्रान्ति ही नहीं की वरन् अपने उपदेशों द्वारा स्पष्ट राजनैतिक परिवर्तन भी किया था। यद्यपि वे कहते थे कि उनका साम्राज्य इस संसार में नहीं स्वर्ग में है सिंहासन पर नहीं मानव हृदय

मे है, परन्तु इन सब सिद्धाता का क्रातिकारी प्रभाव बाह्य जगत पर होना अवश्यम्भावी था। उसके श्रोताम्रा ने चाहे पूरा सुना या समझा न हो, किन्तु वे इतना अवश्य समझ गए थे कि ये क्रातिकारी विचार हैं। उनका विरोध, वह स्थिति और प्राणदण्ड इस बात को सिद्ध करते हैं कि उनका मानव जीवन मे क्राति करने का निणय बहुत स्पष्ट एव दृढ था। इसीलिए सब धनाढय और समद्धिशाली लोग उनसे भयभीत हो गए थे। महात्मा ईसा एक ऐसे भयकर नतिक शिकारी की भाँति थे जो अभी तक गोपनीय माँद म रहने वाली मानवना को निकाल कर प्रकाश म लाना चाहते थे। उनके ईश्वरीय साम्राज्य म सम्पत्ति, विशेषाधिकार, घमण्ड, ऊच नीच का भेद लालसा, पद प्राप्ति आदि के लिए कोई स्थान नही था, केवल प्रम ही प्रेम व्याप्त था।

ईसाई धम का सद्धान्तिक विकास—महात्मा ईसा के चार सुसमाचारा (Gospels) म उनके व्यक्तित्व और उपदेश तो मिलत हैं परन्तु ईसाई धम के सिद्धान्त बहुत कम प्रकट होत ह। यह काय उनके अनुयायिया ने किया और ईसाई धम के मूल सिद्धान्ता का निधारित कर दिया। सेंट पाल उनम मुख्य थ। उनका प्रारम्भिक नाम साल (Saul) था। उन्हान महात्मा ईसा के दशन नही किए थे और न उपदेश ही सुना था। पहले व महात्मा ईसा के विरोधिया म भी थे, किन्तु बाद म व प्रचारक ईसाई धम के अनुयायी बन गए और अपना नाम भी बदलकर पाल कर लिया। वसे तो प्रारम्भ म सभी धर्मों का कठिनाई एव सन्देह का सामना करना पडा है परन्तु ईसाई धम को सन्देह का विशेष सामना करना पडा, क्योकि राजाम्रा की प्रतिष्ठा और धम भेद तथा सम्पत्ति जैसी सस्थाम्रा का सम्पूण महत्त्व ही यह मिटाना चाहता था। इसलिए पूजीपतिया न इसे भ्रष्ट धम (Seditious) कहा और इसके गुणा पर कोई ध्यान नहीं दिया। परन्तु सेंटपाल के अथक परिश्रम और अपूव योग्यता स ईसाई धम लोकप्रिय बनता चला गया।

ईसाई धम की देन—सावजनिक ईश्वरीय पितत्व मानव बधुत्व आदि सिद्धान्ता के अतिरिक्त प्रत्यक मानव को भगवान का स्वरूप समझने की प्रवत्ति का सामाजिक और राजनतिक क्षेत्र म विशष महत्त्व है। विश्व म मानव की प्रतिष्ठा स्थापित करने का गौरवपूण उदाहरण है। कुछ विरोधी यह कहत हैं कि सेंटपाल ने यह प्रतिपादित किया था कि दासा को आज्ञापालक होना चाहिए। परन्तु यह सच है कि महात्मा ईसा इस स्थिति के विरुद्ध थ कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपना सेवक बनाए। प्रथम दो शताब्दिया मे यह धम समस्त रोम साम्राज्य म फैल गया था और उसके बाद निरन्तर लाखा व्यक्तिया का धम परिवत्तन कराते हुए फैलता रहा। आज भी इस धम के पादरी लोग अपना समस्त जीवन अर्पित करते हुए मानव की सेवा मे लगे रहते ह। चिकित्सालय पाठशालाएँ और अन्य ऐसी सस्थाम्रा का आज विश्व म जाल सा बिछा हुआ है और इनके पास अपार धनराशि भी है। सम्भवत आज विश्व का सबस अधिक प्रचारित सगठित और उन्नत धम माना जाता है। भारतवष म इस धम ने सामाजिक समानता की स्थापना म बहुत

सहायता की है तथा निन्दा प्रचार में भी भाग लिया है।

इस्लाम धर्म—इस धर्म का जन्म अरब में हुआ था। इसके संस्थापक मुहम्मद साहब थे। इनका जन्म मक्का के एक साधारण निर्धन परिवार में सन ५७० ई० में हुआ था। इनका शैशव काल साधारण था और इनके माता के यहाँ व्यतीत हुआ था। लगभग चालीस वर्ष की उम्र तक इनका कोई विशेष प्रभाव स्थापित नहीं हुआ था। परन्तु मुहम्मद साहब एक व्यक्ति हुए जिन्होंने अरब जगत को प्रकाशमान कर दिया। अपनी पच्चीस वर्ष की आयु में इन्होंने मक्का में चालीस वर्ष की एक सम्पन्न परिवार की विधवा महिला से विवाह किया था। धार्मिक विचारधारा में इनकी प्रारम्भ से रुचि थी। मक्का उस समय प्रतिमा पूजक (जो इस्लाम धर्म के विरुद्ध है) नगर था और विशेष तौर पर एक श्याम प्रस्तर (काबा) की पूजा होती थी जो समस्त अरब में बहुत प्रसिद्ध था। इस साथ यहूदी का भी केन्द्र था परन्तु यहाँ यहूदी भी बहुत रहते थे। अरब के कुछ भाग में यहूदी धर्म का प्रचलित था सीरिया में कुछ गिरिजाघर भी थे। अरब की स्थिति सामाजिक राजनैतिक धार्मिक तथा आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र था अतः मुहम्मद साहब ने इसे सुधारने का संकल्प किया।

लगभग ४० वर्ष की अवस्था में मुहम्मद साहब को ईश्वरीय प्रेरणा मिली और वे अपने आपको ईश्वर का सन्देशवाहक (खुदा का पैगम्बर) कहने लगे। सर्वप्रथम उन्होंने अपनी पत्नी से यह कहा कि अल्लाह एक है और मुहम्मद उसका पैगम्बर है तथा अच्छाई का फल अच्छा और बुराई का फल बुरा होता है। ये विचार यहूदी और ईसाई धर्म से प्रभावित थे। इन्होंने अपने समर्थकों का एक समूह बनाया और इसी नगर में मूर्तिपूजा का खण्डन आरम्भ कर दिया। इसके कारण वे वहाँ के नगरवासियों को सहन न थे क्योंकि काबा में तीर्थयात्रा के कारण ही यह सब बसर और सम्पन्नता थी। परन्तु वे अपने विश्वासों में दृढ़ और उपदेश देने में साहसी बनते गए और घोषणा की कि मैं खुदा का पैगम्बर हूँ तथा धर्म की शुद्ध बनाने का काम मुझे सौंपा गया है। इन्होंने कुछ पवित्रता की रचना की और यहाँ कि यह भगवान के दूत द्वारा मेरे पास भेजा गया है। ज्यों-ज्यों उनके उपदेशों का जोर बढ़ा त्यों-त्यों विरोध भी बढ़ता गया और अन्त में उनकी हत्या का षड्यन्त्र रचा गया। परन्तु वे अपने शिष्य और अनुयायी अबू बक्र के साथ वहाँ से बच निकले और मदीना आगए। मदीना में आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए इन्होंने कारवाँ लूटना आरम्भ कर दिया। इस कार्य के लिए इन्होंने दस्ते इन की व्यवस्था भी की गई (सन ६२४ ई०) परन्तु सफलता नहीं मिली। फिर मुहम्मद साहब ने मक्का पर भी आक्रमण शुरू कर दिया और लगातार इस वर्षों में पचास आक्रमण किए। तत्पश्चात दोनों में सन्धि हो गई। इसके फलस्वरूप मक्का में एकेश्वरवाद की स्थापना हो गई। काबा पत्थर के अतिरिक्त काबा की अन्य सारी मूर्तियाँ आक्रमणों के समय मुहम्मद साहब ने तोड़ डाली थीं। सन ६२९ ई० में पुन मक्का आ गए और एक वर्ष बाद अपने धर्म दूत शिविकियस टाइसंग ((Tai tsung) का वध

तथा अन्य सब सम्राटों के पास धर्म प्रचार के लिए भेजे थे। तत्पश्चात अपनी मृत्यु के समय सन ६३२ ई० तक लगभग चार वर्ष में उन्होंने सम्पूर्ण अरब में अपना अधिकार जमा लिया था। उन्होंने कई विवाह किये (इस्लाम में चार विवाह तक की आज्ञा है इन्होंने दस विवाह किये)। ऐसा प्रतीत होता है कि वे बहुत घमण्डी लोभी, चालाक आत्म कपटी तथा बहुत सच्चे धर्मोन्मत्त व्यक्ति थे।[1] उन्होंने आदेश और व्याख्याओं की एक पुस्तक लिखवाई जिसे 'कुरान' कहते हैं। उनका कहना था कि यह ईश्वरीय आज्ञा है, परन्तु उसके साहित्य अथवा दर्शन से ऐसा विश्वास नहीं होता।

इस्लाम के सिद्धान्त—इस धर्म के सिद्धान्त 'कुरान' में सग्रहीत हैं। इसमें ११४ अध्याय हैं जिनमें धर्म समाज नीति आदि सभी विषयों पर नियम हैं। इसे अत्यन्त पवित्र माना जाता है। उनकी मुख्य मुख्य शिक्षाएँ इस प्रकार हैं —(१) अल्लाह एक है तथा मुहम्मद उसका पैगम्बर है। (२) प्रत्येक मुसलमान के चार कर्त्तव्य हैं, नमाज पढना खैरात करना रमजान मास में रोजे रखना तथा मक्का का तीर्थ (हज्ज) करना। (३) प्रत्येक मुसलमान को दिन में पाँच बार नमाज पढना चाहिए और शुक्रवार (जुम्मा) के दिन तो अवश्य ही। (४) परस्पर बन्धुत्व की भावना तथा अल्लाह में अटूट विश्वास रखना चाहिए ये दोनों मूल तत्व हैं।

मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद इस धर्म का विभाजन हो गया—एक शिया और दूसरा सुन्नी कहलाया। यह केवल राजनैतिक भेद था। आज ईरान के अतिरिक्त अन्य देशों में अधिकतर सुन्नी हैं। बाद में इस धर्म में रहस्यवाद भी चल पड़ा और वे अपने को सूफी कहने लगे। यह भी कहा जाता है कि इस धर्म का वास्तविक संस्थापक मुहम्मद साहब का मित्र अबू बक्र था। यदि मुहम्मद साहब प्राचीन इस्लाम के मस्तिष्क और कल्पना थे तो श्री बक्र उसकी आत्मा और वाणी। जब मुहम्मद साहब विचलित होते थे श्री बक्र ही उन्हें सभालते थे। उनके बाद श्री बक्र ही उनके उत्तराधिकारी खलीफा बने। इस प्रकार मुस्लिम धर्म को सक्षिप्त गाया है।

विभिन्न धर्मों का पारस्परिक सम्बन्ध—उपरोक्त वर्णन से कुछ कुछ आभास होता है कि सब धर्मों का मूल उत्पादन भारतीय धर्म से हुआ है। बौद्ध धर्म और जैन धर्म के अतिरिक्त इस्लाम तथा ईसाई धर्म भी भारतीय धर्म से सम्बन्धित हैं। हजारों वर्ष प्राचीन मोहनजोदड़ो की सभ्यता मानी गई है किन्तु उससे भी पूर्व दक्षिण अमेरिका में हिन्दू धर्म का प्रचार था यह स्वीकार किया जाता है। एशिया के प्राय सभी धर्म अपना आध्यात्मिक स्रोत हिन्दू धर्म को ही स्वीकार करते हैं। यौगिक साधना तथा आन्तरिक पूजा का विश्लेषण सर्वप्रथम भारत में ही हुआ था। इसके पश्चात् सब धर्मों को सूक्ष्म भाव से विचार करने की शिक्षा मिली। इस प्रकार जिन आध्यात्मिक तत्वों पर हिन्दू धर्म आधारित हुआ व सब अन्य धर्मों के भी

---

१ एच० जी० वेल्स—ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ दी वर्ल्ड, पृ० १७७।

अनिवार्य अंग बन गये। ये तत्त्व सार्वभौमिक थे। बौद्ध धर्म इस अर्थ में और भी आगे रहा। प्रत्येक समाज और स्थिति के लिए यह धर्म अनुकूल हुआ। कोई सामाजिक प्रतिबन्ध नहीं थे। यद्यपि इस्लाम और ईसाई धर्म अपने मत का प्रचार करना प्रमुख कार्य समझते हैं तथापि अवतारवाद का सिद्धान्त हिन्दू धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों में से भी एक है। बाहर से ये धर्म एक सम्प्रदाय के भिन्न तथा अन्य सम्प्रदायों के शत्रु हैं परन्तु वास्तव में यह साम्प्रदायिक रूप धीरे धीरे कम प्रभावशाली हुआ और केवल सार्वभौमिक रूप के सहारे रह गया जहाँ मोक्ष की प्राप्ति ईसाई धर्म के द्वारा भी सम्भव मानी जाने लगी। फिर भी इन धर्मों में असहिष्णुता का भाव रहा अवश्य। यह सच है कि धर्म का भाग विकसित होकर विज्ञान एवं बुद्धिवाद का रूप धारण कर लेता है। इस दृष्टि से हिन्दू धर्म पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है। जिस तरह विज्ञान के क्षेत्र में प्रत्येक प्रयोग के बाद एक सिद्धान्त रहता है उसी तरह हिन्दू धर्म की पृष्ठभूमि में गहन दार्शनिक सिद्धान्त रहे हैं। इस दृष्टि से सब धर्मों में तात्त्विक एकता के दर्शन होते हैं। हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म सब यही कहते हैं कि सत्य अथवा ईश्वर का साक्षात्कार करना सभी के लिए सम्भव है। कुछ सम्प्रदाय फिर भी हिन्दू धर्म में ऐसे हैं जो ईश्वर का साक्षात्कार केवल दीक्षित पुरुषों के लिए सम्भव मानते हैं और ऐसे पुरुष गुरु के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। मोक्ष प्राप्ति गुरु की कृपा के सहारे ही सम्भव मानी जाती है। ऐसे सम्प्रदाय इस्लाम और ईसाई धर्म की समता में रक्खे जा सकते हैं।

बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म भी हिन्दू धर्म में ही सम्मिलित किए जाते हैं। प्रारम्भ में बुद्ध तथा महावीर को हिन्दू शब्द का पता नहीं था। वैदिक तथा ब्राह्मण धर्म से वे पूर्णतया परिचित थे और उनका विरोध भी करते थे परन्तु साथ ही अपने धर्मों को वे आर्य धर्म भी कहते थे। इसलिए ये तीनों धर्म ब्राह्मण रूप, बुद्ध धर्म तथा जैन धर्म आर्य धर्म के ही अंग बन गए और घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हो गए। वास्तव में धर्म आन्तरिक शक्ति की खोज का नाम है और आन्तरिक तत्त्व ही धर्म का सार है। यह सब धर्म स्वीकार करते हैं। इसी सत्य की व्यापकता के कारण प्राचीन युग का प्रत्येक मानव हिन्दू था।

वेदान्त—भारतीय अध्यात्म शास्त्र का मुकुटमणि माना जाता है। वेदान्त का मूल स्रोत उपनिषदों को माना गया है। वेदों के सब रहस्यमय सिद्धान्तों का समन्वय होने के कारण ही इसे वेदान्त (वेद का अन्त=सिद्धान्त) की संज्ञा दी गई है। वेदान्त के प्रसिद्ध भाष्यकारों में निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय हैं—शंकर रामानुज, जैमिनि, भास्कर, मध्व, निम्बार्क आदि। वेदान्त के मूल सिद्धान्त सरल हैं किन्तु समझने में कठिन हैं। वे ब्रह्म की एकता तथा अनेकात्मक जगत की मायिकता में विश्वास करते हैं। इस तथ्य को समझने के लिए कुछ मूल सिद्धान्तों का ज्ञान अनिवार्य समझा है जैसे आत्मा के अस्तित्व के विषय में शंका करने की तनिक भी जगह नहीं है। आत्मा ज्ञान रूप है और ज्ञाता भी है। ज्ञाता वस्तुतः ज्ञान से पृथक नहीं होता। ये ज्ञाता भिन्न भिन्न वस्तु नहीं हैं (आत्मा आत्मानं जानाति—

आत्मा आत्मा को जानता है) । दूसरा, दृष्टि दो प्रकार की होती है—नेत्र की दृष्टि जो अनित्य है तथा आत्म दृष्टि जो नित्य होती है । देश काल की उपाधि द्वैत सत्ता को सिद्ध करता है परन्तु यह काल्पनिक है । निर्विकार तथा निरुपाधि सत्ता का नाम 'ब्रह्म' है और वही जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है । परमेश्वर की बीज शक्ति का नाम 'माया' है । अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का 'जीव' कहते हैं । जीव अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण ही विश्व में अनेक कष्ट भोगता हुआ विचरण करता है । यह वेदान्त का संक्षिप्त वर्णन है । आचार्य शंकर इसके प्रमुख प्रतिपादक हैं । उन्होंने 'कर्म' को प्रधानता दी है और फलकामनाहीन (निष्काम) कर्म का महत्त्व बताया है । गीता का तत्त्व 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' इसी का प्रतिबिम्ब है । इस प्रकार वेदान्त अत्यन्त प्राचीन एवं व्यावहारिक धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है और आचार्य शंकर ने इसकी स्थापना में सर्वस्व अर्पित किया था । इसी लिए उन्हें भगवान शंकर का अवतार माना जाता है ।

सांख्य दर्शन—इस दर्शन में 'संख्या' का नितान्त मूलभूत सिद्धान्त होने के कारण इसे "सांख्य" कहा गया है । यह भी बहुत प्राचीन दर्शन है । इसका स्रोत भी उपनिषद् हैं । त्रिगुणात्मक सिद्धान्त (सत्त्व, रज और तम) सांख्य का प्राचीन सिद्धान्त है । इसके अनुसार जगत की सृष्टि में ये तीन ही रूप कारणभूत हैं ये ही सत्य हैं । जगत केवल नाम रूपात्मक होने से विकार मात्र है । प्रकृति एक है अजा—उत्पन्न न होने वाली । ईश्वर प्रकृति, क्षेत्रज्ञ या जीवों का तथा गुणों का अधिपति है । प्रकृति ईश्वर की माया शक्ति है तथा प्रकृति का अधिपति महेश्वर मायी कहलाता है । इस दर्शन के प्रमुख समर्थकों एवं प्रतिपादकों में निम्न आचार्यों के नाम सम्मिलित हैं—कपिल, आसुरि, पञ्चशिख, विंध्यवासी, विज्ञान भिक्षु आदि । सांख्य दर्शन में तत्त्वों की मीमांसानुसार २५ तत्त्व माने गए हैं जिनका वर्गीकरण चार प्रकार से किया जाता है —

(१) प्रकृति—ऐसा तत्त्व जो सबका कारण तो होता है किन्तु स्वयं किसी का कार्य नहीं होता (संख्या १) ।

(२) विकृति—कुछ तत्त्व कार्य ही होते हैं—स्वयं किसी से उत्पन्न होते हैं किन्तु स्वयं किसी अन्य को उत्पन्न नहीं करते (संख्या १६) ।

(३) प्रकृति विकृति—कुछ तत्त्व कार्य तथा कारण दोनों होते हैं—उनमें कुछ तत्त्वों से उत्पन्न भी होते हैं और अन्य तत्त्वों के उत्पादक भी होते हैं (संख्या ७) ।

(४) न प्रकृति-न विकृति—कोई तत्त्व कार्य तथा कारण दोनों ही सम्बन्धों से शून्य होता है (पुरुष संख्या १) ।

सांख्य का एक विलक्षण सिद्धान्त है जिसे कार्य कारण सिद्धान्त कहते हैं । तदनुसार उत्पत्ति से पहले भी कार्य कारण में अव्यक्त रूप से उपस्थित रहता है । इसलिए कार्य तथा कारण में वस्तुतः अभिन्नता है । इसे परिणामवाद भी कहा जाता है । सांख्य दर्शन वास्तव में द्वैतवाद का समर्थक है । उसकी दृष्टि में प्रकृति और पुरुष दोनों मूल तत्त्व हैं जिनके परस्पर सम्बन्ध से इस जगत का निर्माण होता।

है। प्रकृति जड़ है तथा एक है और पुरुष चेतन है और अनेक हैं। इस जगत के समस्त पदार्थ—मन, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सीमित तथा अस्वतन्त्र होने के कारण कार्य रूप हैं। इनकी उत्पत्ति किसी न किसी मूलतत्व से हुई है। इनके मतानुसार जगत का स्वरूप सुख दुख मोहात्मक है तथा प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही विश्व की सृष्टि होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द तीन प्रमाण सांख्य में स्वीकार किए गए हैं। सत्य और अहिंसा सांख्य शास्त्रियों के कल्याण शास्त्र का मूलाधार है। मुक्ति इन्होंने दो प्रकार की मानी है—जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति। इनके आचार्यों का विश्वास है कि जगत की रचना तथा कर्म सिद्धान्त के लिए ईश्वर की सत्ता स्वीकार करना आवश्यक नहीं है।

इस प्रकार सांख्य ने चैतन्य की सत्ता पुरुष रूप में स्वीकृत की है और प्रकृति का साथ देकर बन्धन में होकर सीमित होते माने हैं। महर्षि कपिल ने अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा इस दर्शन को बहुत ऊँचा उठाया है। इसके बाद वेदान्त ने उस पर ग्रन्थ रचते हुए पूर्णता प्रदान की है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१　निम्नलिखित में से किसी एक पर परिचयात्मक निबन्ध लिखिए —
　हिन्दू धर्म, बुद्ध धर्म, जैन धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म।

२　वेदान्त और सांख्य पर विवेचनात्मक टिप्पणियाँ लिखिए।

३　'भारतवर्ष के प्राचीन सभी धर्मों में एकता है'। इस कथन की पुष्टि करते हुए अपने विचार व्यक्त कीजिए।

४　निम्न में से किन्हीं तीन पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए —
　कपिल, शंकर, मुहम्मद, हज़रत, माधव, निम्बार्क, विवेकानन्द।

छठा अध्याय

साहित्य के मूल सिद्धान्त

प्रस्तावना—आज का मानव समाज धन, ऐश्वर्य एवं शक्ति का पुजारी बन गया है। व्यापार ने मनुष्य को धन लोलुप तथा राजनीति ने उसे वैभव प्रिय बना दिया है। इसीलिए धन एवं ऐश्वर्य की खोज में मानव अन्धा एवं पागल होकर देश विदेश का भ्रमण करता है और इसी मृगतृष्णा में युद्ध तथा विद्रोह की अग्नि भड़काता जाता है। मनुष्य की सारी मानसिक एवं शारीरिक शक्ति इन्हीं दोनों वस्तुओं की प्राप्ति में लगी हुई हैं, इसलिये मानव हृदय हीन बनता जा रहा है इस हृदयहीन मानव को पुनर्जीवन देने के लिये साहित्य का सृजन होना है। जिसमें प्रत्येक सहृदय मानव के अन्तस्थल को स्पर्श करने की क्षमता होनी है। वैसे मानव केवल धन या रोटी के बल पर जीवित भी नहीं रह सकता। उसके शरीर को भोजन चाहिये परन्तु शरीर उसका केवल आधा भाग है। उसके हृदय और मस्तिष्क का पोषण भी उतना ही आवश्यक है। इनके पोषण का कार्य साहित्य द्वारा सम्पन्न होना है।

साहित्य—सहितस्य भावः साहित्यं जिसमें सहित का भाव हो, उसे साहित्य कहते हैं। अर्थात जो हमारे हितकारी भाव हैं वे ही साहित्य है। कवीन्द्र रविन्द्र के शब्दों में साहित्य की सुन्दर व्याख्या हुई है। वे कहते हैं— सहित शब्द से साहित्य शब्द की उत्पत्ति है अतएव धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में एक मिलन का भाव दृष्टिगत होता है, वह केवल भाव का भाव के साथ, भाषा का भाषा के साथ, ग्रन्थ का ग्रन्थ के साथ मिलन है, यह नहीं वरन वह बतलाता है कि मनुष्य के साथ मनुष्य का अतीत के साथ वर्तमान का दूर के सहित निकट का अत्यन्त अन्तरंग योगसाधन साहित्य है यह और किसी के द्वारा सम्भव नहीं। जिस देश में साहित्य का अभाव है, उस देश के लोग परस्पर सजीव बन्धन से बँधे नहीं विच्छिन्न होते हैं।' अतः साहित्य शब्द बहुत व्यापक है। वस्तुतः साहित्य समाज का जीवन एवं समाज का दर्पण है तथा समाज के उत्थान एवं पतन का साधन है। साहित्य के उन्नत होने से समाज उन्नत एवं साहित्य के पतन से समाज का पतन होता है। साहित्य ऐसा आलोक है जो समाज को अन्धकार से रहित कर उसके मुख को उज्ज्वल बनाता हुआ ज्योतिर्मय नेत्र प्रदान करता है। वह साहित्य साहित्य नहीं है जिससे समाज का जीवन चेतनाशील न बन, हृदय में स्पर्श प्रेम का संचार न हो। यह कार्य गद्य और पद्य साहित्य की दोनों प्रमुख शाखाओं द्वारा सम्पादित होता है।

साहित्य की आवश्यकता—विचारपूर्वक देखा जाय तो जीवन में आनन्द प्राप्ति के अनेक साधन उपलब्ध हैं। खान पान भ्रमण आदि कुछ ऐसे ही प्रकार हैं, परन्तु जब शरीर साथ न दे और चिन्ताओं का समूह निरंतर बढ़ता जाय, श्रमफल-

दशा में जीवन भारमय प्रतीत हो, उस समय साहित्य, और विशेष तौर पर काव्य हमारे जीवन को फिर प्रफुल्लित बना देता है। दुःख तथा शोक, विरह तथा वेदना, भय तथा मृत्यु, रोग तथा निराशा, कष्ट तथा कठिनाइयाँ जब अपना विकराल मुँह खोलकर सम्मुख आते हैं तो हम हताश हो जाते हैं। इस अवसर को सुखमय बना देने की क्षमता दुःख में सान्त्वना देने वाले साहित्य में है। कवि एवं साहित्यकार इसी हेतु सुखद साहित्य का सृजन करते हैं। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि हमारे सुखी जीवन में साहित्य का उपयोग नहीं है। सुखी जीवन में भी साहित्य उतना ही उपयोगी रहता है। वास्तव में साहित्य हमारे अवकाश की शान्ति तथा व्यस्त जीवन की प्रसन्नता का साधन है।

भारतीय साहित्य का विकास—भारतीय साहित्य का आरम्भिक रूप वेदों में उपलब्ध होता है। वैदिक साहित्य की अनेक स्थितियाँ हैं—संहितायें, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र। इनमें ब्राह्मण ग्रंथ, वेदांग और सूत्रादि मूल ग्रंथ गद्य में हैं। अन्य धर्मशास्त्र हैं तो पद्य में किन्तु इनमें काव्य तत्त्व का अभाव है। इसका कारण यह था कि इस साहित्य में विषय प्रधान और धार्मिक है। इसमें भाव पक्ष और मौलिकता का अभाव है। इसलिए वैदिक साहित्य में कोई काव्यगत विशेषता विकसित होकर उत्पन्न नहीं हुई। वैदिक साहित्य के बाद संस्कृत साहित्य का युग आरम्भ होता है। वाल्मीकि कृत रामायण इस युग का प्रथम महाकाव्य है। इस युग में अनेक महाकवि हुए और अनेक महाकाव्यों का सृजन हुआ। इस समय काव्य का अधिक महत्त्व रहा। इसके पश्चात् प्राकृत साहित्य का विकास हुआ। पाली में कथा, कहानी आदि का विकास हुआ परन्तु इसमें गद्य साहित्य प्रधान होने के कारण प्रभाव सीमित रहा। प्राकृत में पद्य साहित्य की प्रधानता होने के कारण विकास शीघ्रता से हुआ और प्रभावशालिता भी रही। तत्पश्चात् अपभ्रंश साहित्य प्रकट हुआ। जैन सम्प्रदाय के ग्रन्थ इसी भाषा में हैं। इस समय तक यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य से आरम्भ करके समस्त काव्य का रूप और आकार बदलता रहा है और गद्य का घटता रहा है और अपभ्रंश तक आते आते काव्य ही काव्य उपलब्ध होता है। इसके अनन्तर सिद्ध साहित्य तथा नाथ साहित्य का प्रमुख स्थान रहा है। १८वीं शताब्दी के अन्त तक यह सिलसिला चलता रहा। आधुनिक हिन्दी साहित्य का आरम्भ वीर काव्य से होकर धार्मिक काव्य, शृंगारिक काव्य, स्वच्छन्द कविता आदि के पश्चात् छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रतीकवाद, यथार्थवाद तथा प्रयोगवाद आदि की ओर बढ़ता जा रहा है।

साहित्यिक सिद्धान्त—साहित्य, संगीत एवं कला का मानव जीवन से गहरा सम्बन्ध है। वैसे तो साधारण मनुष्य में अपने अनुभवों के अभिव्यक्ति की इच्छा होती है परन्तु साहित्यकारों में उनकी सूक्ष्म दृष्टि के कारण यह इच्छा और भी बलवती होती है और साहित्य इन्हीं चार पदों के माध्यम से वे अपने अनुभव साधारण जनता तक पहुँचाते हैं। इस साहित्य में स्थायी भावना तथा शाश्वत आनन्ददायिनी शक्ति होती है। वास्तव में कला की भाँति साहित्य का अस्तित्व ही जीवन के लिए

है। विशेषत काव्य जीवन से ही आविर्भूत है इसकी सत्ता जीवन से ही है और जीवन ही के लिए उसका प्रकाश है। उत्तम साहित्य के लिए कुछ विशेषतायें अनिवार्य है जिनके कारण उसकी लोकप्रियता एव महत्ता सदैव बनी रह सकती है। अनेक ऐसी विशेषताओं मे से कुछेक निम्न हैं —

(१) सार्वभौम मानव अनुभूतियाँ—इनका समावेश साहित्य म हो जाने से साहित्य अमरत्व प्राप्त कर लेता है क्योंकि मानव मूल्य अधिकाश समय और स्थिति के साथ शीघ्र परिवर्तित नहीं होते। इसलिए ऐसे अनुभव सदैव नवीन और जीवित प्रतीत होते हैं तथा पाठकों को आत्मानुभूति द्वारा आनन्द प्राप्त होता है। जैसे कालीदास का मेघदूत, शेक्सपियर के नाटक, तुलसी और सूर के भजन और गीत आज भी वही आनन्द प्रदान करते हैं जो प्राचीन काल म करते थे। इसका कारण यही है कि मानव अनुभूतियाँ उसी कोटि की हैं जो सदैव, सब परिस्थितियो म सदा एक सी और महत्वपूर्ण रहती हैं।

(२) *काव्य और छन्द—काव्य प्रत्येक साहित्य का विशेष अग होता है* और छन्द के साथ इसका गहरा सम्बन्ध है। फिर भी छन्दहीन कवितायें होती हैं जिन्हें कुछ लोग गद्य काव्य की सज्ञा देते हैं। साथ ही छन्दमय काव्य को पद्य भी कहते हैं। वास्तव म गद्य और पद्य मे विरोध नहीं है। श्रेष्ठ कलाकार गद्य मे भी काव्य की आत्मा रख सकता है। इसलिए काव्य रूप पर ही निभर नहीं होता वरन् आन्तरिक लक्षणो ही पर निभर होता है जिसमें कल्पना की मात्रा विशेष होती है। इसीलिए गद्य म भी कल्पना का आनन्द पर्याप्त मात्रा म होने पर वह भी गद्य काव्य कहलाता है। साथ ही पद्य म कल्पना का अभाव हो तो वह भी केवल छन्दपूर्ण पद्य मात्र रह जाता है जैसे वैद्यक, ज्योतिष आदि की पुस्तकें। इस प्रकार साहित्य म कल्पना का स्थान बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। काव्य रचना मे सगीत की मात्रा अनिवार्य है और इस सगीत का प्रकाश छन्द द्वारा सुविधापूर्वक हो जाता है। छन्द काव्य सुन्दरी का आकर्षक आभूषण है इससे उसके सौन्दर्य म चार चाँद लग जाते हैं। इसलिए प्राचीन एव अर्वाचीन साहित्यकारों और कवियो ने छन्द और काव्य मे आत्मिक सम्बन्ध स्वीकार किया है। पद शब्द का प्रयोग भी इसी रूप म अनेक स्थानो पर विभिन्न अर्थों मे किया जाता है। नृत्यकार का पद कविता के पद, भजन आदि पद कहलाते हैं और इसीसे पद्य शब्द बना है।

(३) साहित्य, रस तथा अलकार—किसी भी साहित्य को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए विभिन्न अलकार और रसो का प्रयोग किया जाता है। परिस्थिति के अनुसार अनुकूल रस अपनी अमिट छाप जमाने म और अलकार उसके प्रकाश को जाज्वल्यमान करने में सफल होते हैं। इसीलिए साहित्य मे नवरस और उनकी महत्ता तथा विभिन्न प्रकार के अलकारो का विश्लेषण करते हुए उन्हें साहित्य के अभिन्न अग के रूप म स्वीकार किया गया है।

साहित्यिक समालोचना—वर्तमान समय मे समालोचना साहित्य का अनिवार्य अग बन गया है। अत समालोचना का अर्थ एव उसकी महत्ता को समझना

आवश्यक समझा जाता है। वाल्टर पेटर के शब्दों में समालोचना वास्तव में कला की व्याख्या करने की कला है। इसके द्वारा लेखक और पाठक के बीच की दूरी मिटाई जाती है। ड्राइडन के शब्दों में समालोचक एक प्रकार के दुभाषिए की श्रेणी में आता है और वह कृति के पूर्ण अर्थ और महत्त्व को उन लोगों के लिए सुलभ बनाता है जो स्वयं समझने में असमर्थ होते हैं। व्यापक अर्थ में समालोचना वह प्रयास है जो सब प्रकार के साहित्य में उस उद्देश्य को प्रस्तुत करता है जो वास्तव में सबमें निहित है। इसका उद्देश्य सर्वोत्तम विचारों को व्यापक बनाना है जिससे वे समाज में जागरूक गति और विचार का स्थान लेकर रचनात्मक युग का श्रीगणेश करते हैं। एक फ्रांसीसी लेखक (Anatole France) के मतानुसार तो अच्छा समालोचक वह है जो अपनी आत्मानुभूति को उत्तम ढंग से वर्णन करता है।

समालोचना के मुख्य तत्त्व—कुछ विद्वान समालोचना को निर्णय (Judgment) भी कहते हैं। १८वीं शताब्दी तक समालोचक न्यायाधीश के रूप में ही समझा जाता था जो प्रत्येक सम्बन्धित कृति के सम्बन्ध में रूपाकृति, नियम एवं साहित्य के अनुसार उसके गुण व दोष प्रकट करता था। यह विचार आज भी मान्य है। इसलिए सम्यक् निर्णय के बाद प्रशंसा करने वाला समालोचक अच्छा पथ प्रदर्शक होता है। इसका प्रभाव रचनात्मक एवं विवेचनात्मक होता है। स्वतन्त्रतापूर्वक की गई यह आलोचना सदैव लाभकारक होता है। वास्तव में समालोचना का मुख्य उद्देश्य है साहित्यिक रचना के समझने में स्थायी सहायता पहुँचाना। इसलिए आधुनिक युग में समालोचना साहित्य की महत्ता स्वीकार की गई है।

समालोचना साहित्य में उसी प्रकार आवश्यक होता है जैसे साहित्य जीवन में और यह उसी प्रकार विचारात्मक होता है जिस साहित्य का वह सर्जन करता है। इसलिए साधारणतया यह समझा जा सकता है कि समालोचना का स्थान रचना से गौण है किन्तु यह उसका गौणत्व वास्तविकता नहीं। समालोचना में यदि किसी कल्पना, ज्ञान, और भाषा का प्रदर्शन इतना विशेष हो सकता है कि रचना से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाय जिसके कारण वह उत्तम हो। विक्टोरिया युग के अनेक आलोचकों के प्रबन्ध पुस्तकों की अपेक्षा (आंग्ल साहित्य में) अधिक प्रचलित रहे और अध्ययन योग्य बने रहे। कुछ लोग आलोचना के विरुद्ध भी हैं। उनके मतानुसार समालोचना एक प्रकार के औपचारिक लेख और समालोचक निराश लेखक होते हैं जो केवल उपदेश दे सकते हैं कर कुछ भी नहीं सकते। परन्तु यह दृष्टिकोण उचित नहीं है। जैसे बुद्धि स्वयं ही परम्पराओं से अधिक दृढ़ सिद्ध हुई है उसी प्रकार साहित्य भी समालोचना की अपेक्षा अधिक दृढ़ सिद्ध हुआ है। किन्तु फिर भी साहित्य समालोचना की अनिवार्यता है।

समालोचक के गुण—स्थानाभाव के कारण यहाँ हम केवल संक्षेप में समालोचक के वांछनीय गुणों का उल्लेख मात्र करके सन्तोष करेंगे। साधारणतया समालोचक को अपने विषय का पारंगत एवं उस ओर स्वाभाविक झुकाव होना चाहिए।

के लिये प्रस्तुत रहना चाहिये। वह सूक्ष्म बुद्धि तथा चतुर हो। वह निष्पक्ष रहते हुए भी स्वतन्त्र उद्घोषणा करने की क्षमता से युक्त हो। उसका ज्ञान नवीनतम तथा पूर्ण होना चाहिये। उसे अन्य भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए तथा पर्याप्त भ्रमण का अनुभव भी आवश्यक होता है। अपने विषय की तकनीकी से पूर्णरूपेण विज्ञ होना चाहिये। अन्त में, उसे इस क्षेत्र का दीर्घ अनुभव हो और प्राकृतिक झुकाव के साथ श्रम तथा अध्यवसाय सरीखे गुणों का समन्वय हो यह भी आवश्यक है।

वर्तमान समय में साहित्य का कलेवर बहुत विकसित हो गया है। प्राचीन साहित्य, शिशु साहित्य, प्रौढ़ साहित्य, सिनेमा साहित्य, गल्प साहित्य आदि अनेक शाखायें प्रचलित हैं और दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। ऐसे अवसर पर समस्त साहित्य का अध्ययन न तो सम्भव है और न वाञ्छनीय। अतः समालोचक का कार्य और भी अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण हो जाता है। अपनी रुचि की दुनिया का सृजन होने के पश्चात् सर्वप्रथम उसकी समालोचना पर ही दृष्टि जाती है। इसलिये यदि उचित समालोचना है तो लेखक के प्रति, पाठक के प्रति और समाज के प्रति सच्ची सेवा होती है किन्तु अपने वर्तमान प्रमाण से विचलित होकर यदि अनावश्यक स्तुति अथवा अनुचित निन्दा कर दी जाय तो इन सभी के साथ घोर अन्याय होता है। अतः इस विज्ञान के विकसित निरन्तर दीर्घ सृजन साहित्यिक विश्व में समालोचना एवं समालोचक का स्थान अभूतपूर्व एवं महत्व का बन गया है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. साहित्य' से आप क्या समझते हैं? इसकी मानव समाज में आवश्यकता है, इस कथन की पुष्टि कीजिए।

२. भारतीय साहित्य का विकास किस प्रकार हुआ? संक्षेप में लिखिए।

३. साहित्यिक सिद्धान्त क्या होते हैं व्याख्या कीजिए।

४. समालोचना किसे कहते हैं? समझाइए और इसकी उपयोगिता पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

५. अच्छे समालोचक के अनिवार्य गुणों पर टिप्पणी लिखिए।

— : —

भारतीय निधि
(HERITAGE OF INDIA)

सातवां अध्याय
भारतीय सभ्यता तथा आर्यों का आगमन

प्रस्तावना—आज भारतवर्ष संसार के प्राचीनतम सभ्य देशों की श्रेणी में बहुत ऊंचा स्थान रखता है। सन् १६२२ तक तो भारतवर्ष की सभ्यता केवल वैदिककाल तक ही स्वीकार की जाती थी किन्तु सिन्ध के लरकाना जिले में मोहनजोदड़ो तथा पंजाब के मॉण्टगमरी जिले में हड़प्पा स्थान पर खुदाई द्वारा प्राप्त अवशेषों से भारत की संस्कृति के प्राचीनतम होने का भान हुआ और अब भारतवर्ष सभ्यता के क्षेत्र में और भी अधिक प्राचीन सिद्ध हो गया। डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी तथा अंग्रेज विद्वान श्री बर्क तथा श्री मार्शल इस विषय पर एकमत हैं कि भारतवर्ष की यह (सिंध की घाटी की) सभ्यता समस्त विश्व में प्राचीनतम तथा प्रारम्भिक रही है। अन्य विद्वान लोग भी अब इस मत का समर्थन करते हैं। इस प्रकार प्राचीनकाल में भारतीय सभ्यता उन्नति की चरम सीमा पर रही है। मध्ययुग में संकीर्णता अंधविश्वास आदि दोषों के कारण फिर उसका पतन हुआ और लुप्त प्राय सी हो गई। सौभाग्य से भारतवर्ष पुनः स्वतन्त्र हुआ है और अब हमारे देश की नवीन विकसित सभ्यता उत्तरोत्तर प्रगति की ओर अग्रसर हो रही है। इसकी आधुनिक प्रगति की प्रबल प्रेरणा निस्सन्देह हमारी प्राचीन सभ्यता से ही प्राप्त हो रही है।

विशेषताएँ—भारतीय सभ्यता में निहित अनेक गुण और विशेषताओं का विस्तारपूर्वक वर्णन करना यहां सम्भव नहीं है किन्तु फिर भी मुख्य मुख्य विशेषताओं पर संक्षेप में विचार करना अनिवार्य भी है। प्रथम विशेषता यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उसमें समन्वय की भावना है। अपनी मौलिकता की रक्षा के साथ ही साथ इस सभ्यता में दूसरे ग्रन्थों को धीरे धीरे अपनाकर एकाकार होने जाने की क्षमता विद्यमान है। यही कारण है कि भारतवर्ष विश्व के समस्त धर्मों और सम्प्रदायों को अपने यहाँ स्थान दे सका है। दूसरी विशेषता है सहिष्णुता अर्थात् सहन करने की क्षमता। साधारणतया विश्व के दूसरे देशों और सम्प्रदायों में संकीर्णता की वृत्ति निहित रही है जिसके द्वारा स्वयं को उत्कृष्ट तथा अन्य दूसरों को हीन समझने की अथवा उनकी आलोचना करने की प्रवृत्तियाँ चलती रही हैं। किन्तु भारतीय सभ्यता अपने वास्तविक रूप का ध्यान धारण किए हुए दूसरों का समान सम्मान करने में सदैव आगे रहा है। इसलिए दूसरों का पतन देखकर नहीं वरन् प्रगति देखकर प्रसन्न होने की प्रथा का अनुसरण करती रही है। तीसरी विशेषता है धार्मिक आधार। अर्थात् भारतीय जीवन में प्रत्येक कर्त्तव्य केवल इसलिए ही महत्त्व नहीं

रखता कि वह यथार्थ अथवा अनिवार्य है वरन् इसलिए भी कि वह एक आदर्श है। और ऐसे समस्त आदर्शों का आधार धर्म है जिसका महत्व आज बीसवीं सदी में भी कम नहीं कहा जा सकता। चौथी विशेषता है व्यापकता इसका क्षेत्र किसी सीमा में बँधा हुआ नहीं है। जीवन के समस्त क्षेत्र भारतीय सभ्यता की सीमाओं में सम्मिलित हैं। इसलिए यह कहकर नहीं बचा जा सकता कि यह व्यक्तिगत जीवन की बात है अथवा पारिवारिक प्रश्न है अथवा राज्य के क्षेत्र का विषय है। इस प्रकार इन मुख्य विशेषताओं के कारण भारतीय सभ्यता विश्व की शाश्वत सभ्यताओं में प्रमुख स्थान रखती है।

सिन्धु घाटी की सभ्यता—यद्यपि पिछले अध्यायों में इस सभ्यता का पर्याप्त वर्णन किया जा चुका है किन्तु कुछ और ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका यहाँ उल्लेख करना उपयुक्त जान पड़ता है। उदाहरणार्थ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस सभ्यता के निवासी कौन थे तथा कहाँ से आये थे? साधारणतया मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि वहाँ के निवासी एक ही रंग जाति अथवा नस्ल के नहीं थे। वहाँ प्राप्त मानव अस्थियाँ यह प्रमाणित करती हैं कि वे लोग भिन्न भिन्न जाति और स्थानों से आए हुए थे। इस विषय के पारंगत डा० गुहा और कर्नल स्यूवल का विचार है कि इन निवासियों में कम से कम तीन चार प्रकार की जाति के लोग थे। वे यह भी अनुमान करते हैं कि इन निवासियों का सम्बन्ध मेसोपोटामियाँ से अवश्य रहा होगा।

यह निस्सन्देह सत्य है कि इस सभ्यता का सम्बन्ध अन्य सभी मुख्य मुख्य सभ्यताओं से रहा था। जब तक हम इसे वैदिक काल तक सीमित समझते थे, विश्व की अन्य प्राचीनतम सभ्यताओं के समकक्ष इसे रखते ही नहीं थे, किन्तु अब प्राचीनतम सभ्यताओं की श्रेणी में आने के उपरान्त यह भी स्वतः सिद्ध हो जाता है कि मिस्र, ईरान आदि सभ्यताओं से भी यह सम्बन्धित थी। खुदाई से प्राप्त अवशेषों से यह पूर्णतया सिद्ध भी हो गया है। मुद्राएँ और तावीज जिन पर चित्रात्मक अक्षर अंकित हैं मेसोपोटामियाँ की सभ्यता से निकट सम्पर्क सिद्ध करते हैं। कुछ मुद्राओं पर वस्त्र के निशान हैं जिससे प्रकट होता है कि यहाँ वस्त्र अधिक उत्पन्न होता था, और मुख्य व्यवसाय भी यही था। सुमेरिया के साथ यह व्यापार अधिक होता था। इसीलिए उस सभ्यता से सम्बन्ध होना भी प्रकट होता है। वस्त्रों की उन्नति रूई की उपज पर निर्भर था और रूई की उपज में मिस्र के साथ समानता और सम्पर्क प्रमाणित होता है। इस प्रकार सिंधु घाटी की सभ्यता एकाकी नहीं थी बल्कि अपने आस पास की प्रसिद्ध सभी सभ्यताओं के साथ घुली मिली थी और अपना प्रभाव दूसरी सभ्यताओं पर पर्याप्त रूप में स्थापित था। यही कारण है कि वर्तमान समय में भारतवर्ष के स्वतन्त्र होने के पश्चात् विश्व के अन्य देशों से सम्पर्क स्थापित करना हमारे लिए सुगम रहा है।

आर्यों का आगमन—सर्वप्रथम भारतवर्ष में द्राविड लोग निवास करते थे। लगभग २००० ई० पू० खैबर की घाटी से भारत में ऐसे लोगों ने प्रवेश किया जो

डीलडौल में लम्बे हृष्ट पुष्ट, गौर वर्ण, लम्बी नाक वाले और साहसी वीर थे। ये लोग कहाँ से आये इसका पूरा-पूरा ज्ञान अभी तक भी नहीं है। विद्वानों के विचार इस विषय पर भिन्न भिन्न हैं। डा० अविनाशचन्द्रदास के मतानुसार ये लोग सप्त सिंधु के निवासी थे। बाल गंगाधर तिलक ने माना है कि आर्य उत्तरी ध्रुव से भारत आये थे। डा० स्मिथ आर्यों का मूल स्थान मध्य एशिया को मानते हैं। यूरोपियन विद्वान मैक्समूलर भी इसी मत के समर्थक हैं। कुछ भारतीय विद्वान भारत को ही आर्यों का मूल निवास स्थान मानते हैं। फिर भी साधारण धारणा यही है कि आर्य बाहर से भारत में आए और आर्य कहलाये। 'आर्य' शब्द का अर्थ 'सभ्य' अथवा 'सज्जन' समझा जाता है। कुछ लोग 'उच्च वर्ग' भी इसका अर्थ लगाते हैं। श्री तिलक ने आर्य शब्द का अर्थ फुटनोट में 'कृषक' भी किया है। ये लोग अपनी संस्कृति को आर्य संस्कृति कहने लगे। इनके प्रवेश के समय भारत में रहने वाले द्राविड़ लोग धीरे धीरे दक्षिण की ओर जाने लगे। आर्य लोगों का प्रवेश वास्तव में एक ही बार नहीं हुआ किन्तु धीरे धीरे कई झुण्डों में ये लोग आये।

आर्य संस्कृति का मूल आधार वेद माने जाते हैं। वेद शब्द 'विद्' धातु से बना है जिसका अर्थ है जानना अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना। उत्तर भारत में बस जाने के बाद वेदों की रचना हुई। यह रचना काल भी विभिन्न विद्वानों द्वारा अलग अलग माना जाता है। श्री तिलक यह रचना काल ईसा से छः हजार वर्ष पूर्व और श्री अविनाशचन्द्रदास ईसा से लगभग २५ हजार वर्ष पूर्व का मानते हैं। भारतीय परम्पराओं के अनुसार वेद अनादि माने जाते हैं। कुछ भी हो वेद आर्य जाति का अत्यन्त प्राचीन साहित्य है और चारों वेदों में ऋग्वेद सबसे अधिक प्राचीन है। वेदों के कई भाग हैं जिनमें संहिता ब्राह्मण आदि मुख्य हैं। कुछ विद्वानों की राय है कि इंगलैंड ईरान भारत और जर्मनी में आने वाले आर्यों का कोई सामान्य निवास स्थान रहा होगा क्योंकि इन स्थानों पर विभिन्न भाषाओं में अनेक शब्दों में बहुत गहरी समानता है जैसे 'पिता' के लिए संस्कृत में (भारत) पितृ यूनानी में 'पेटर' या पट्रिआर और अंग्रेजी में (इंगलैंड) फादर' शब्द प्रयोग में आते हैं। इसी प्रकार माता के लिए भी समान ध्वनि वाले शब्द काम में आते हैं। इसीलिए कुछ विद्वान आर्यों का मूल निवास स्थान यूरोप को भी बताते हैं।

आर्यों का सामाजिक जीवन—मुख्य रूप से आर्य लोग पशुपालन और कृषि कार्य करते थे और भारत में आने पर भी यही व्यवसाय करते रहे। समाज का संगठन परिवार पर आधारित था। परिवार पितृ प्रधान होते थे। पिता ही परिवार का अध्यक्ष और सर्वेसर्वा माना था। संयुक्त परिवारों की प्रथा प्रचलित थी बहु विवाह प्रथा का रिवाज नहीं सा था केवल राजवंशों में सूक्ष्म रूप से प्रचलित थी। परिवारों में भाई-बहिन के पवित्र सम्बन्ध माननीय थे। समाज में इसीलिए भाई बहिन और पिता पुत्री के विवाह सम्बन्ध का स्पष्ट निषेध था। दहेज आदि प्रथाएँ प्रचलित हो गई थीं। फिर भी स्त्री जाति का सम्मान अधिक था। अतिथि सत्कार

गौरव का विषय माना जाता था। सती प्रथा प्रचलित नहीं थी। विवाह धार्मिक बंधन समझा जाता था। विधवा विवाह चलता था। नियोग प्रथा भी प्रचलित थी। तलाक असम्भव था। स्त्रियाँ जीवन भर नियन्त्रण मे रहती थी। शैशवकाल मे पिता के आधीन यौवनकाल मे पति के आधीन और वृद्धावस्था मे पुत्र के आधीन रहने की व्यवस्था थी। स्त्रियाँ अध्ययन करती थी। गार्गी आदि उसी समय की परम विदुषी महिलाओ मे से हैं। सन्तानहीन लोग पुत्र गोद भी लेते थे। विवाह सबधा के लिए चार गोत्र टालने का रिवाज इसी समय से चल चुका था। द्राविडो के सम्पर्क से जाति भेद भी उत्पन्न होने लगा। वैसे व्यवसायो के अनुसार प्राय लोग चार भागो मे सगठित हो गए थे। अध्ययन और अध्यापन करने वाले ब्राह्मण देश की रक्षा करने वाले क्षत्रिय कृषि, पशुपालन तथा व्यापार करने वाले वैश्य और तीनों की सेवा करने वाले शूद्र लोग कहलाने लगे थे। चौथी श्रेणी मे साधारणतया द्राविड लोग थे। द्राविडो से सम्बन्ध रखने के आधार पर ही आर्य लोग ऊँच और नीच बनने लगे। अधिक सम्बन्ध रखने वाले नीच और कम सम्पर्क रखने वाले उच्च। इसीलिए ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यो मे भी क्रमश उच्चता की भावना जम गई। वास्तव मे वर्ण का अर्थ रग ही है। परन्तु बाद मे व्यवहार द्वारा वर्ण का अर्थ 'वर्ग' और जाति के रूप मे समझ लिया गया जो स्वतन्त्र होने के पूर्व तक उग्र रूप मे भारतवर्ष मे रहा। आर्यों का भोजन साधारण होता था, त्योहारो पर सुरा पान भी किया जाता था। वस्त्र भी साधारण होते थे किन्तु आभूषणो से उन्हे विशेष स्नेह था। उनका जीवन सतोषी होता था। स्त्रियो का प्रिय मनोविनोद नृत्य एव कला था और पुरुषो का घुडदौड शिकार तथा जुआ आदि। अन्त्येष्टि सस्कार के कई रूप प्रचलित थे जिनमे दाह-सस्कार, जल समाधि, भूमि समाधि और पशु भक्षण मुख्य थे किन्तु प्रथम अग्नि दाह अधिक प्रचलित था।

राजनैतिक व्यवस्था—तत्कालीन सभ्यता का केन्द्र उस समय का ग्राम था। उसका अध्यक्ष 'ग्रामणी' कहलाता था। वह राज्य के प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य में ग्राम का प्रतिनिधित्व करता था। अनेक ग्रामो की एक समिति (Assembly) होती थी और प्रत्येक ग्राम का प्रतिनिधि उसका सदस्य होता था। इसे विश अर्थात प्रजा भी कहते थे। इसके ऊपर वाला सगठन 'जन' कहलाता था जो समद की भाँति होता था। इस प्रकार ग्राम, विश और जन के रूप मे राज्य सगठित होता था। 'जन' या 'जनपद' का स्वामी राजा होता था। राजा को लोग प्राय निर्वाचित करते थे किन्तु वश परम्परागत राजाओ का भी प्रचलन था। राज्य के कार्य सचालन के लिए 'सभा' और 'समिति' नामक दो सस्थाए होती थीं। ये सस्थाएँ ही राजा का निर्वाचन राजा को परामर्श देना पदच्युत करना पुन सिंहासनारूढ करना आदि कार्य करती थीं। पुरोहित राजा का प्रधान परामर्शदाता होता था। राजा स्वय प्रजावत्सल होता था और समाज मे बहुत सम्माननीय होता था राज्य सम्बन्धी प्रत्येक कार्य के लिए राजा ही उत्तरदायी समझा जाता था। प्रजा की रक्षा, शत्रु से युद्ध शान्तिकाल मे धार्मिक कृत्य और त्योहारो की व्यवस्था तथा अपराधियो के लिए दण्ड व्यवस्था का

भार उसी पर होता था। अग्नि वरुण वायु सूर्य, चन्द्रमा आदि के अंशों से ईश्वर राजा के निर्माण की कल्पना इसी दृष्टि से की गई थी कि समय और स्थिति के अनुसार राजा को अपने कर्तव्य का पालन इच्छापूर्वक करना चाहिए।

आर्थिक व्यवस्था—आर्य अधिकांश कृषक थे और पशुपालन का व्यवसाय भी करते थे। कृषि में बैलों का प्रयोग होता था। गाय आदरणीय पशु मान लिया गया था। बकरी, भेड़ कुत्ते और गधे भी उपयोगी मान लिए गए थे। बुद्धिमान होने के कारण आर्य लोग शीघ्र ही कृषि-पंडित बन गये थे। इसलिए सिंचाई करने लगे थे। गेहूँ जौ तिलहन और कपास की खेती भी करते थे और धीरे धीरे शिल्प कला की ओर भी आगे बढ़ रहे थे। मुद्रा का प्रचलन न होने हुए भी व्यापार की ओर अग्रसर हो रहे थे। विनिमय के लिए गाय और आभूषणों का प्रयोग होता था। खेती से सम्बन्धित लोहार बढ़ई और कुम्हार के व्यवसाय भी विकसित हो गये थे। घुड़सवारी में भी निपुण थे। रथ की सवारी वर्छी भाले का प्रयोग तथा कवच धारण करना वे जानते थे। पुरुष और स्त्रियाँ बहुमूल्य धातुओं के संग्रह की दृष्टि से आभूषणों का बहुत धारण करते थे। शिक्षा का महत्व बहुत था और 'कष्ट शिक्षा' का सिद्धान्त व्यवहार में आता था। मौखिक शिक्षा की परम्परा थी। 'Simple living and high thinking' साधारण जीवन और उच्च विचार का सिद्धान्त वास्तव में कार्यान्वित होता था। धार्मिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता था। गुरुकुल प्रथा विकसित हो रही थी इसीलिए सह-शिक्षा भी प्रचलित हो रही थी। शिक्षा का माध्यम संस्कृत भाषा था और गणित व्याकरण साहित्य आदि का प्राधान्य था। इस प्रकार समाज की आर्थिक व्यवस्था उत्तम थी।

धार्मिक जीवन—ये लोग प्रकृति के विभिन्न रूपों की पूजा करते थे। इनके देवताओं की संख्या ३३ थी। सूर्य, चन्द्र यम, अग्नि वरुण आदि मुख्य थे। पूजा में यज्ञ का स्थान प्रधान समझा जाता था। नक्षत्र और वर्णों की पूजा इन्होंने द्राविड़ों से सीखी थी और मारण, उच्चाटन वशीकरण आदि भी उन्हीं से अपनाए थे। ईश्वर के अनेक रूपों में से इनका विश्वास था किन्तु फिर भी एकेश्वरवाद में ही इनकी श्रद्धा अधिक थी। मृत्यु के पश्चात जीवन क्या है? इस पर उनका कोई स्पष्ट विचार नहीं था। मूर्ति पूजा प्रचलित नहीं थी और न वे लोग प्रतिमा में विश्वास करते थे। बलिदानों की प्रथा थी। गायत्री और सावित्री मन्त्रों का प्रयोग अधिक होता था। धीरे धीरे उत्तर वैदिक काल में कुछ पतन प्रारम्भ हुआ और यज्ञ और कर्म-काण्डों का प्रचार बढ़ा। भूत प्रेत तन्त्र मन्त्र, जादू टोना आदि की प्रथायें चल पड़ीं।

आर्यों का प्रसार—आर्यों के समूह निरंतर खैबर की घाटी से भारतवर्ष में आते रहे और संख्या निरंतर बढ़ती गई जिसके फलस्वरूप गंगा और यमुना के मैदान तक इन्हें पहुँच जाना पड़ा और अन्त में पूर्व में बंगाल तक, दक्षिण में विन्ध्याचल तक इनका प्रसार हो गया और सम्पूर्ण उत्तर भारत पर आर्यों का आधिपत्य जम गया। इस कार्य में द्राविड़ लोग पीछे हटते गये किन्तु पूरी तरह सब लोग नहीं

जाते थे इसलिए द्राविडो से सम्पर्क हुआ और आर्य संस्कृति पर भी द्राविडों का प्रभाव पड़ा। आर्यों ने शुद्ध रहने की चेष्टा की और अनेक प्रकार के नियम बनाए। शूद्र स्त्रियों के साथ विवाह न किया जाय। द्राविड लोग काले छोटे कद और कुरूप होते थे, किन्तु फिर भी सम्पर्क से वर्णों में हेल मेल बढ़ता ही गया और आज तो समस्त विश्व मे ही वर्णसंकरता व्याप्त हो चुकी है। फिर भी आर्यों ने अपना प्रयास नहीं रोका। जाति नियम कठोर बनाए। फलस्वरूप नई नई जातियां बनने लगीं और आर्य जाति का प्रसार आशातीत गति के साथ समस्त भारत में व्याप्त हो गया।

आर्य संस्कृति का महत्व—क्रमश विकसित होकर आर्य संस्कृति अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गई थी। राजनैतिक क्षेत्र में राजा का स्वरूप एक वास्तविक संवैधानिक शासक के रूप में विकसित हुआ। राज्यो के आकार बढ़े। बड़ी बड़ी सेनाओं की व्यवस्था की जाने लगी। सामन्त विकसित हुए। प्रजातन्त्रात्मक भावनाओं के प्रतीक स्वरूप सभा और समितियां स्थापित हुई। राज्याभिषेक के समय शासक महत्वपूर्ण शपथ ग्रहण करने लगा। मन्त्रिपरिषद् जैसी संस्था की स्थापना हुई। न्याय और नियम का स्पष्ट स्वतन्त्र अस्तित्व समझा जाने लगा। कर सिद्धान्त और भूमि संबंधी उत्कृष्ट नियमों को मान्यताएं दी गई और राजा नियमो के आधीन बना दिया गया। आर्थिक क्षेत्र में, गंगा यमुना के उवरा मैदानों के कारण आर्य निश्चिन्त बने रहे और समृद्धि की वृद्धि के साथ वस्त्र आभूषण भवन और विनोद के साधन भी विकसित होते गये। सात मंजिल तक के मकान भारतवर्ष में उस समय बनने लग गए थे। गणित विद्या की उन्नति भी आशातीत थी। ज्योतिष ज्ञान विकसित हो गया था। पदार्थ की उत्पत्ति इसी समय में हुई थी। आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध और जीव ब्रह्म का विचार इसी समय प्रारम्भ हो गए थे। इस प्रकार लगभग ईसा से ६०० वर्ष पूर्व तक वैदिक कालीन सभ्यता एक उच्च कोटि की सभ्यता थी जो कई शताब्दियों तक फलती फूलती रही जिस पर वर्तमान भारत गर्व करता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ सिंधु की घाटी की सभ्यता का वर्णन कीजिए।
२ आर्य कौन थे? उनके सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक जीवन का वर्णन कीजिये।
३ 'आर्य संस्कृति' पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।
४ आर्य लोग कहाँ से, तथा कब आये? इस प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

—०—

आठवाँ अध्याय

वैदिक-काल की संस्थाएँ

प्रस्तावना—भारतीय सभ्यता और वैदिक सभ्यता सुतरां एक ही है। किन्तु उस समय की सभ्यता जो विशेष रूप से देश में प्रभावित रही और पहले तथा बाद में बदल गई वैदिक सभ्यता कहलाती है। मौलिक रूप से दोनों एक ही अर्थ में प्रयोग में आती हैं। इस सभ्यता का पर्याप्त वर्णन हम इससे पहले के अध्याय में कर चुके हैं और यह भी बताया जा चुका है कि द्राविड़ और आर्य सभ्यताओं का समन्वय किस प्रकार से हुआ। अब यहाँ केवल उन सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन करेंगे जो इस युग में विकसित और स्थापित हुईं। इनमें मुख्य रूप से वर्ण-व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, संयुक्त परिवार प्रथा, जाति प्रथा और अस्पृश्यता आदि हैं।

वर्ण व्यवस्था—जैसा पहले कहा जा चुका है प्राचीन समाज का संगठन वर्णाश्रित ढंग से करने के लिए नागरिकों ने स्वयं अपने व्यवसायों के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की थी। इसमें समाज का हित ध्यान रखकर किया गया था। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार इन व्यवसायों को अपनाता था। जन्मजात वर्ण-व्यवस्था नहीं थी। आर्य लोगों के आने से कुछ मतभेद उत्पन्न हुआ और आर्य और अनार्य का भेद स्वीकार किया जाने लगा और तब वर्ण अर्थात् रंग व्यवस्था चल पड़ी। आर्य गौर वर्ण के हृष्ट-पुष्ट होते थे और अनार्य काले, कुरूप और छोटे कद के होते थे। अपने गौर वर्ण पर गर्व करने के कारण वे अपने को श्रेष्ठ समझते थे। शादी विवाह भी वे अपने ही वर्ण में करना चाहते थे और काले कुरूप लोगों को हीन समझते थे। साधारण कार्य कृषि मजदूरी आदि अनार्यों से कराते थे। इसी आधार पर कार्य व्यवस्था स्थापित हुई और ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण स्वीकार कर लिये गए। इसकी पुष्टि वेदों की ऋचाओं द्वारा की गई कि ब्राह्मण सब श्रेष्ठ और फिर उसी क्रम से शेष तीनों वर्णों का निम्न स्तर का माना जाने लगा। अपौरुषेय वेदों ने यह प्रकट किया कि ब्राह्मण भगवान के मुख से क्षत्रिय भुजा से वैश्य जंघा से तथा शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए हैं और इसलिए ये अपनी उत्पत्ति के स्थान के अनुसार समाज में कर्तव्य का करेंगे। वास्तव में यह समाज के कार्य और व्यवसाय विभाजन की व्यवस्था थी जिसमें नागरिक अपनी रुचि के अनुकूल चारों प्रकार के कार्य में से एक चुनकर जीवनयापन कर सकता था। जन्म से इस व्यवस्था का कोई सम्बन्ध नहीं था। इसी प्रकार परस्पर भोजन, पारिवारिक सम्बन्ध आदि पर भी कोई प्रतिबन्ध नहीं थे। परस्पर वर्णों के बीच कोई दीवार नहीं थी। परन्तु कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था कर्म प्रधान न रहकर जन्म प्रधान बन गई। ब्राह्मण-पुत्र वेदों से अनभिज्ञ रहकर भी ब्राह्मण ही बना रहने लगा। और क्षत्रिय पुत्र शारीरिक

बल विहीन रहकर भी रक्षक ही बना रहने लगा। शूद्र का पुत्र अत्यन्त बुद्धिमान होने हुए भी सेवक ही बना रहने लगा। इस प्रकार रूढ़िगत समाज में वर्ण-व्यवस्था का आधार कर्म के स्थान पर जन्म ले लिया और वर्तमान समय तक के उत्पन्न वर्ण व्यवस्था के समस्त अवगुणों को जन्म दे दिया। अन्यथा यह समाज के वैज्ञानिक संगठन का एक सुन्दर स्वरूप था। वैसे आज के युग में भी व्यवस्था यही है किन्तु उसका कोई संगठन नहीं है।

आश्रम व्यवस्था—यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो तत्कालीन समाज वास्तव में वर्ण निर्भर आधार पर संगठित था। वर्ण व्यवस्था उस समय के समाज के गठन की रूप रखा थी, परन्तु केवल वह पर्याप्त नहीं थी। समाज व्यक्तियों से बनता है इसलिए जब तक व्यक्तिगत जीवन व्यवस्थित नहीं है समाज भी व्यवस्थित नहीं हो सकता है। इसीलिए समाज की रूपरेखा के साथ और अधिक दृढ़तापूर्वक आश्रम व्यवस्था का पालन किया जाता था। प्रत्येक नागरिक का यह धर्म या कर्त्तव्य था कि वह आश्रम व्यवस्था का अनुसरण करे। यहीं से उसे अनुशासन की शिक्षा मिलती थी और नागरिक गुणों के विकास का अवसर मिलता था। जन्म से देहावसान तक समस्त जीवन चार आश्रम में विभाजित किया गया था और मानव की औसत आयु १०० वर्ष की अनुमान की जाती थी और २५ वर्ष की अवधि का प्रत्येक आश्रम माना गया था। सर्व प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम होता था। इस समय व्यक्ति अपनी शारीरिक, बौद्धिक और चरित्र सम्बन्धी उन्नति की ओर ध्यान देता था और आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध पर भी गम्भीर अध्ययन और अनुभव प्राप्त करता था। इस समय वह अन्य सब प्रकार की चिन्ता यथा से मुक्त रहता था। गुरुओं के आश्रमों में समानता के आधार पर सच्ची शिक्षा दी जाती थी। जीवन सरल और सादा होता था। आजकल की भाँति विद्यार्थियों की भीड़ भी नहीं होती थी क्योंकि अध्ययन की चाह ही विद्यार्थी में प्रथम और अन्तिम अनिवार्य गुण समझा जाता था। सब लोग इस अवस्था में ब्रह्मचर्य धारण करते थे इसीलिए इस ब्रह्मचर्य आश्रम कहते थे। दूसरा आश्रम था गृहस्थाश्रम। यह आश्रम २५ वर्ष की आयु से लेकर ५० वर्ष की आयु तक माना गया था। इस समय नवयुवक गृहस्थ बन जाता था और पति-पत्नी के परस्पर सम्बन्ध निर्वाह का भार सन्तानोत्पत्ति समाज के प्रति कर्त्तव्य पालन अतिथि सत्कार माता पिता की सेवा आदि कार्य इसी समय करने होते थे। इस आश्रम को सबसे अधिक महत्व दिया गया था। धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सुगम प्राप्ति इसी आश्रम के द्वारा हो सकती थी। इसके पश्चात ५० वर्ष की उम्र से ७५ वर्ष की उम्र तक वानप्रस्थ आश्रम होता था। इस समय गृहस्थाश्रम का त्याग करना होता था और निष्प्रयोजन समाज तथा देश की सेवा में जुटना होता था। आजकल की भाँति मरते दम तक सांसारिक माया मोह में फँसे रहने का विचार भी नहीं किया जाता था और फिर अन्तिम समय ७५ वर्ष अवस्था से लेकर १०० वर्ष की अवस्था तक सन्यास आश्रम होता था। इस समय मनुष्य संसार के सब सम्बन्ध छोड़कर सन्यास ग्रहण करता था। भिक्षा द्वारा अपनी

उदरपूर्ति करने लगता था और घरबार छोड़ जाता था जिससे अपनी सन्तान जायदाद आदि से मोह छूट जाता था और निरन्तर परमात्मा के स्मरण द्वारा मोक्ष प्राप्ति में लग जाता था इस प्रकार मानव का जीवन 'शत वर्ष जीवेत' के आधार पर १०० वर्ष का मानकर उसकी व्यवस्था और विभाजन किया था और सम्पूर्ण जीवन ही एक सरल किन्तु कठिन स्व-अनुशासन में आबद्ध था। इसका पालन करने वाले समाज में सदा प्रसन्न रहते थे और पालन न करने वालों के लिए कोई दण्ड व्यवस्था भी नहीं थी। ऐसा स्वयं स्वीकृत अनुशासन वैदिक प्राचीन सभ्यता में नागरिकों के लिए विद्यमान था। यह आश्रम व्यवस्था पूर्ण रूपेण वैज्ञानिक थी और आज भी है। प्रारम्भ के २५ वर्ष शिक्षा दीक्षा और शारीरिक मानसिक विकास के लिए उपयुक्त हैं। उसके बाद ही गृहस्थ धर्म की आवश्यकता होती है और सन्तानोत्पत्ति आदि का उपयुक्त अवसर होता है। इसके बाद वानप्रस्थ न लेने वाले आज भी मृत्यु पर्यन्त रोते रहते हैं और सन्यास की सोचें तो वास्तव में जीवित ही मुक्त होने की अवस्था है। इन सबका अनुभव आज भी कल्पना करने मात्र से ही अत्यन्त शान्ति प्रदान करता है इसलिए अनुसरण तो अवश्य ही मोक्षदायक होता होगा यह निश्चय है।

संयुक्त परिवार प्रथा—अन्य संस्थाओं की भाँति संयुक्त परिवार प्रथा भी वैज्ञानिक आधार पर स्थापित की गई थी। यह भारतीय समाज की ही विशेषता है। नागरिक के जन्म से ही उसके सर्वोत्तम गुणों का विकास सब प्रथम परिवार से ही होता है। समाजशास्त्रियों का विश्वास है कि पारिवारिक सिद्धान्तों में एक व्यक्ति का प्रभाव रक्त द्वारा चौदहवीं पीढ़ी तक जाकर पुनः प्रकट और विकसित हो जाता है। इसलिए परिवार का प्रभाव बहुत गहरा और व्यापक होता है। वैसे भी सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य को समाज चाहिए और वह भी ऐसा समाज जिसमें अनुशासन हो। इसी कारण संयुक्त परिवार प्रथा का जन्म हुआ जहाँ अपने ही परिवार के समस्त सदस्य मिलजुलकर रह सकें। समाज की उन्नति का दूसरा साधन सहयोग है। यह सहकारिता की भावना भी परिवार से बढ़कर अन्यत्र नहीं हो सकती। 'रक्त पानी की अपेक्षा अधिक गाढ़ा होता है तथा घर की बुहारी लाख की' आदि कहावतें इसी आधार पर प्रचलित रही हैं। वास्तव में संयुक्त परिवार का प्रभाव बहुत होता है और अलग अलग हो जाने पर सभी की सम्मिलित प्रतिष्ठा एकदम काफूर हो जाती है। अनुशासन की दृष्टि से भी यह पद्धति ठीक थी। एक पूर्वज के नियन्त्रण में सबको रहना होता था और उसकी आज्ञा माननीय होती थी। पिता माता, चाचा चाची भाई भतीजे पुत्र वधू आदि सभी साथ रहते हैं इसलिए परस्पर प्रेम भी विकसित होता रहता है। अन्य लाभ यह थे कि वृद्धावस्था में हर प्रकार के साधन उपलब्ध होते थे विधवाओं का निर्वाह भी होता था, बीमारी के समय सबसे हर प्रकार का सहयोग मिलता था कुछ कम या न कमाने वाले अथवा अपाहिज तथा कुछ अच्छा कमाने वाले मिलकर सम्पूर्ण परिवार को सुखी बनाये रखते थे और संघर्ष की दृष्टि से भी सबका मिला जुला एक अच्छा संगठन होता था। व्यावसायिक दृष्टि से कृषि पशुपालन, कुटीर उद्योग आदि में भी यह व्यवस्था सहायक होती थी।

इसलिए इस प्रथा का महत्व था। आधुनिक काल में पश्चिमीय सभ्यता के प्रभाव से लोग व्यक्तिवादी या कहिए स्वार्थी अधिक हो गये। सहिष्णुता का अभाव और माता पिता के प्रति सेवाभाव शून्य हो जाने के कारण भी यह प्रथा नष्ट होती जा रही है।

जाति प्रथा— जिस सभ्यता ने व्यक्ति पर अनुशासन लाने के लिए आश्रम व्यवस्था और समाज को सुदृढ़ बनाने के लिए वर्ण व्यवस्था का प्रचलन किया, वही विकास स्वयं आगे भी बढ़ता गया। वर्ण व्यवस्था के अनुसार समाज के मार्ग दर्शन, अध्ययन, अध्यापन कार्य ब्राह्मणों ने अपना उत्तरदायित्व समझा और उसमें पारंगत हो गए। अच्छा स्तर रखने के लिए नियम उपनियम बनाए। कुछ गुप्त ज्ञान भी रखा और धीरे धीरे अपना क्षेत्र सीमित बना लिया और दूसरों से भेद करने लगे। एक वेद का पाठ करने वाले पाठक दो का पाठ करने वाले द्विवेदी, तीन का पाठ करने वाले त्रिवेदी त्रिपाठी या तिवाडी और चारों वेदों का पाठ करने वाले चतुर्वेदी या चौबे कहलाने लगे और जातियाँ बनने लगीं। अन्य वर्ण के लोग भी इसी प्रकार विशेषज्ञता के आधार पर अपना एकाधिकार जमाने लगे। क्षत्रिय लोगों ने देश की सुरक्षा और प्रशासन पर अधिकार जमाया। वैश्यों ने व्यापार में एकाधिकार जमाया और शूद्रों से भेद करना आरम्भ कर दिया। कालान्तर में रीति रिवाज अलग अलग बन गए खान पान और विवाह शादी के नियम भी रूढ़िगत बन गए और ये जातियाँ कर्मप्रधान रहने के स्थान पर जन्म प्रधान बन गई। मनुस्मृति द्वारा ये जातियाँ स्थायी बन गईं। तब जाति, उपजाति आदि चल पड़ी और हिन्दू समाज विघटित होने लगा। ऊंच नीच का भेद प्रकट होने लगा और व्यक्तिगत उन्नति में बाधा हुई। लोगों का परस्पर व्यवहार बन्धनों में बंध गया और इस प्रकार राष्ट्र की मानसिक और शारीरिक उन्नति में बाधा पहुँची और राष्ट्रीय भावना का विकास भी रुक गया। अब स्वतन्त्र होने के बाद यह दोष कम हुआ है। किन्तु समूल नष्ट होने के लिए अभी कम से कम २० वर्ष और चाहियें।

अस्पृश्यता—हमारी संस्कृति के भाल पर यह एक कलंकमय अत्यन्त खेद-जनक प्रथा थी जो सैकड़ों वर्षों तक प्रचारित रही। वास्तव में इसका श्रीगणेश तो आर्य और अनार्यों के भेद के समय से ही हो गया था किन्तु बाद में जब वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी स्वयं क्रमशः एक दूसरे से श्रेष्ठ समझने लगे तब विवाह खानपान आदि के बन्धन कठोर बनाए गए और उनका उल्लंघन करने वालों को पतित और शूद्र की भाँति गिरा हुआ समझा जाने लगा तब यह दोष स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ। वर्तमान समय के प्रचलित जीर्ण जाति संगठन में आज भी यह नाटक देखने को मिलते हैं कि किसी व्यक्ति को जाति से निष्कासित करने पर उससे पानी नहीं छुआते, उसके साथ बैठकर धूम्रपान नहीं किया जाता। अतः इसी प्रकार निम्न जाति में ब्याह करने पर, जाति के नियमों का उल्लंघन करने

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ वदिक काल की प्रमुख सामाजिक सस्थाओं पर एक निबन्ध लिखिए।

२ निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर टिप्पणियाँ लिखिए —
(अ) जाति प्रथा (आ) वर्ण व्यवस्था (इ) आश्रम व्यवस्था (ई) अस्पृश्यता
(उ) सयुक्त परिवार।

३ आर्य और अनार्य सस्कृति के समन्वय से आप क्या समझते हैं ? समझाकर लिखिए।

— o —

नवाँ अध्याय

बौद्ध तथा जैन धर्मों का सामाजिक महत्त्व

प्रस्तावना—बौद्ध और जैन धर्मों के स्वरूप और सिद्धान्तों का अध्ययन हम पिछले अध्यायों में कर चुके हैं। यहाँ हम केवल उनके महत्त्व पर विचार करना है। भारतवर्ष में गीता का बहुत अधिक महत्त्व माना जाता है और उसका प्रत्येक शब्द भगवान श्रीकृष्ण के मुख से उच्चारित हुआ माना जाता है। उसमें कहा है "यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थान मधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्॥" अर्थात जब जब धर्म की हानि होती है तब तब मैं स्वयं आकर विश्व की रक्षा करता हूँ। बौद्ध धर्म और जैन धर्म के प्रादुर्भाव के समय भी भारत की स्थिति दयनीय थी। यद्यपि ब्राह्मण लोग बहुत बुद्धिमान थे और समाज का नेतृत्व उनके हाथ में था। किन्तु फिर भी ऊँच-नीच का भेद, अस्पृश्यता और जातिगत जटिल दीवारें समाज की सामान्य प्रगति को अवरुद्ध बनाने में पूर्ण समर्थ हो चुकी थीं। नागरिक नागरिक में परस्पर भेद उत्पन्न हो चुका था। एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण से ऊँचा होना चाहता था। दूसरे या नीची श्रेणी का समझकर घृणा की जाती थी। समाज में कर्मकाण्ड, पशु बलि, मन्त्र तन्त्र जादू टोना अपना महत्त्वपूर्ण स्थान लेने जा रहे थे। वास्तव में मानवता कराहने लगी थी। ऐसे ही अवसर पर बौद्ध धर्म और जैन धर्म अवतरित हुए।

कालान्तर में अन्य धर्मों की भाँति बौद्धधर्म में भी मतभेद उत्पन्न हो गए और हीनयान और महायान दो शाखाएँ बन गईं। एक बौद्धधर्म के प्राचीन रूप को ही मानता था, बुद्ध की पूजा करता था और नए परिवर्तन स्वीकार नहीं करता था। दूसरा महायान उदार था। रूढ़ियों के विरुद्ध विचारों को अधिक महत्त्व देता था इसीलिए विचार स्वतन्त्रता आदि का स्थान दिया गया था। यह वैदिक धर्म के अधिक समीप आ गया था और वास्तविक प्रगति इसी धर्म के द्वारा हुई थी। जैन धर्म में भी इसी प्रकार दो शाखाएँ श्वेताम्बर और (दिगम्बर) दिगम्बर बन गई थीं। इनमें दिगम्बर कट्टर पन्थी थे और श्वेताम्बर परिवर्तन स्वीकार करते थे। वास्तव में ये दोनों धर्म भारतवर्ष में थोड़े से अन्तर के अतिरिक्त लगभग साथ साथ ही चले।

सामाजिक महत्त्व—अधिकांश विद्वानों का मत है कि बौद्ध और जैन धर्म धार्मिक आन्दोलन थे, किन्तु उससे भी अधिक ये वास्तव में सामाजिक आन्दोलन थे। धार्मिक क्षेत्र में भी वेद और उपनिषदों में वर्णित मूल तत्त्वों का समावेश इन धर्मों में हुआ है और यही कारण है बौद्ध धर्म तो बाद में वैदिक धर्म के अत्यधिक निकट समझा जाने लगा और बुद्ध भगवान को भी अन्य अवतारों के साथ सम्मिलित किया जाने लगा। परन्तु इससे भी अधिक इन धर्मों का महत्त्व सामाजिक

रूप में हुआ। तत्कालीन समाज अनेक कुप्रथाओं और विषमताओं से पीड़ित था। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को मनुष्य ही नहीं समझता था। प्रत्येक व्यक्ति अपने को श्रेष्ठ तथा दूसरे को निकृष्ट समझने का अभ्यस्त हो गया था। अस्पृश्यता का भीषण रोग प्रचण्ड रूप धारण कर चुका था। जाति की दीवारें अभेद्य बन गई थीं। स्त्रियों और शूद्रों का जीवन दयनीय था। ऐसे ही समय में इन धर्मों ने जाति प्रथा और छूआछूत को महत्त्वहीन बताया। मौलिक मानव समानता को आधार बनाकर समाज में समानाधिकार की स्थापना की। ऊँच नीच का भेद मिटाकर अपने धर्मों का मार्ग सब प्रकार के लोगों के लिए प्रशस्त बना दिया। शूद्र और स्त्रियों के लिए कोई रुकावट नहीं रक्खी। नैतिकता और सुसंस्कृत जीवन के आदर्श समाज के सामने उपस्थित किए। बलि के स्थान पर अहिंसा तन्त्र मन्त्र और जादूटोना की धोखे की टट्टियाँ हटाकर सत्य सम्भाषण का महत्त्व सामान्य जीवन में शिष्ट और सदाचारमय आचरण और व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के घमण्ड के स्थान पर नम्रता को स्थान देने का महत्त्वपूर्ण प्रयास इन धर्मों ने किया। वृद्ध माता पिता और बड़े बूढ़ों का सम्मान करने की परिपाटी पुनः जाग्रत की। इस प्रकार पतन की ओर अग्रसर समाज को बौद्ध और जैन धर्म ने संभाला। अश्वमेध, नरमेध आदि का ऊपरी भ्रम लगाकर ब्राह्मणों ने घोड़े की बलि और मनुष्य की बलि चढ़ाना आरम्भ कर दिया था। बौद्ध और जैन धर्म ने अहिंसा का पाठ पढ़ाकर हर प्रकार के जीव जन्तुओं की रक्षा का दायित्व मनुष्य को समझा दिया। इस प्रकार इन धर्मों के प्रचार से समाज का ढाँचा बदलने लगा। जाति पाँति की उपेक्षा होने लगी, ब्राह्मणों का महत्त्व जाता रहा। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध पर वे कभी प्रसंग भी नहीं लाते थे। सम्भवतः वे नास्तिक बन गए, परन्तु स्पष्ट रूप से उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन भी नहीं किया। ऐसे धर्म की उन्नति और विकास के लिए संघों की स्थापना भी की। धर्म में विशेष रुचि रखने वाले लोग घर बार छोड़कर संघ में सम्मिलित हो जाते थे। ये सब भिक्खु कहलाते थे। अपने शिष्यों के आग्रह पर बाद में महिलाओं के संघ भी स्थापित किए। इनमें जाति पाँति और खान पान का कोई भेद नहीं होता था। उनके निवास के लिए बड़े बड़े विशाल विहार और चैत्य बनाए गए जिनमें हजारों की संख्या में भिक्खु या भिक्खुणियाँ रहते थे। वे लोग भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करते थे और सारा समय पठनपाठन और चिंतन में व्यतीत करते थे। अतिथि सत्कार और अभ्यागत की प्रतीक्षा की सुन्दर परिपाटी इसी समय से चली थी। बाद में इन विहारों में पतन और भ्रष्टाचार भी फैल गया था किन्तु यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि वर्ण व्यवस्था और अस्पृश्यता को इन्हीं धर्मों के कारण धक्का लगा और अवनति की ओर जाते समाज को रोक कर पुनः उन्नति की ओर आगे बढ़ाया।

सांस्कृतिक महत्त्व—सामाजिक महत्त्व के साथ इन धर्मों का सांस्कृतिक महत्त्व और भी अधिक है। दोनों धर्मों के प्रमुख संस्थापकों ने अपने उपदेश जनता की बोल चाल की भाषा में प्रस्तुत किये जिसे जनता समझकर स्वागत कर सकी।

अभी तक गूढ़ संस्कृत ही धर्म की भाषा थी इसलिए धर्म ज्ञान विद्वान ब्राह्मणों तक ही सीमित रहा। इन धर्मों के अनुयायी समृद्धिशाली लोग विशेष तौर पर व्यापारी और वैश्य होते थे जिनके पास सम्पत्ति के अटूट भण्डार होते थे। इसलिए बौद्धों ने शिक्षा को महत्त्व देने के लिए बड़े बड़े विश्वविद्यालय स्थापित किए। छात्रावास, पुस्तकालय आदि की व्यवस्था की और अनेक विषयों का अध्ययन प्रारम्भ किया। अनेक सुन्दर हस्तलिखित ग्रंथों का संग्रह किया। अनेक विहार बनवाए जो विद्यालयों के रूप में काम में आते थे। अनेक भवनों के निर्माण द्वारा स्थापत्यकला का विकास हुआ। स्तूप, विहार, चैत्य, प्रतिमाएं और स्तम्भ बनाए गए। चित्रकला का विकास हुआ। अशोक के राजभवन को देखकर विदेशी यात्री कहते थे ये अमानवीय हैं अर्थात् इन्हें बनाना मनुष्य की क्षमता से बाहर है। उस समय का शिल्प भी सर्वोत्कृष्ट था। अशोक की लाट इस धातु की बनी है जिस पर कभी जंग नहीं लगता, यद्यपि आज हजारों वर्षों का समय भी व्यतीत हो गया है। गुफाओं के भीतर की दीवारों के चित्र आज तक चित्रकारों को आश्चर्यचकित करते हैं। इनका रंग-रूप और रेखाएं अत्यन्त मनमोहक हैं। मूर्तिकला भी उन्नत हुई। इसके अतिरिक्त बौद्धों ने अपने सिद्धान्त विश्वव्यापी बनाने का प्रयत्न भी किया और चीन, जापान, तुर्किस्तान, ब्रह्मा आदि देशों में धर्म प्रचारक भेजे गए। इस धर्म प्रचार के साथ-साथ विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रभाव भी बढ़ा और भारत की विशालता का परिचय मिला।

जैनधर्म द्वारा भारतीय संस्कृति में अहिंसा और कर्म सिद्धान्त की पुष्टि हुई। वैसे प्राय सभी धर्मों में अहिंसा प्रिय थी किन्तु कालान्तर में यज्ञों की प्रथा के कारण अहिंसा आदि में विश्वास कम होने लग गए थे। बुद्ध भगवान ने इसका निराकरण किया किन्तु अहिंसा को सर्वोपरि स्थान जैनधर्म ने दिया। उन्होंने अहिंसा की व्यापक व्याख्या करते हुए सिद्ध किया कि प्राणीमात्र को किसी भी प्रकार का कष्ट पहुंचाना भी शारीरिक, मानसिक अथवा किसी भी प्रकार की हिंसा हो जाती है। इस प्रकार समाज के सम्मुख उच्च मानवता आदर्श उपस्थित किया। कर्म सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाने का श्रेय भी जैनधर्म को ही है। वैसे पहले भी यह सिद्धान्त भारतवर्ष में प्रचलित था किन्तु जैसी करनी वैसी भरनी, जैसा बोओगे वैसा काटोगे अथवा जैसा कर्म करोगे वैसा फल मिलेगा आदि उक्तियाँ जन जन के मस्तिष्क में बैठाने का महत्त्वपूर्ण कार्य जैनधर्म ने ही किया है और यही कारण है कि आज समस्त भारतवर्ष में यह एक लोकप्रिय सिद्धान्त है जिसे सभी धर्मावलम्बी आदर की दृष्टि से देखते हैं और जीवन में अपनाने की चेष्टा करते हैं।

साहित्यिक क्षेत्र में जैन और बौद्धधर्म का योगदान प्रशंसनीय है। अनेक तीर्थंकरों द्वारा रचित ग्रंथ और जातक ग्रंथ आज भी प्राचीन भारत के साहित्य, दर्शन और कला के अपूर्व भंडार और अमूल्य निधि हैं। जैनियों का तर्कशास्त्र बहुत विकसित और सुन्दर है। उनके ग्रंथों में विषयों का विवेचन अच्छा है। उनकी वैज्ञानिक विचार प्रणाली द्वारा दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का

प्रतिपादन उल्लेखनीय है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक विषय का अध्ययन अनेक पक्षों से किया जाना चाहिए। केवल एक पक्षीय ज्ञान अधूरा ही नहीं घातक भी होता है। अध्ययन की गहनता और व्यापकता की ओर लक्ष्य करता हुआ यह सिद्धांत, चिन्तन की गम्भीरता के साथ विचारों की उदारता का प्रतीक भी है। इन दोनों धर्मों ने भारतवर्ष के साहित्य के सभी क्षेत्रों में योगदान दिया है। कथाएँ दर्शन, उपदेश, काव्य नाटक इत्यादि सभी इनके साहित्य में उपलब्ध हैं। अन्य अनेक विशेषताओं के साथ इनके साहित्य और कला में सरल उच्च आदर्श और जन साधारण के लिए उपयोगी सिद्धान्तों का लोकप्रिय प्रतिपादन बहुत ही सुन्दर ढंग से हुआ है।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति बौद्ध और जैनधर्म के सहयोग बिना अपूर्ण रहती है। इसीलिए हिन्दू-संस्कृति, बौद्ध और जैन संस्कृति सभी के समन्वय के फलस्वरूप ही हमारी वर्तमान भारतीय संस्कृति प्रस्तुत होती है, जो विश्व के वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श के अनुकूल सब संस्कृतियों से अधिक उपयुक्त है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ बौद्ध और जैनधर्म का सामाजिक महत्त्व समझाइए।

२ "बौद्ध और जैनधर्म ने भारतीय संस्कृति के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है" इस मत की पुष्टि कीजिएगा।

३ बौद्ध और जैनधर्म के साहित्य, कला और दर्शन के सम्बन्ध में एक विवेचनात्मक निबन्ध लिखिए।

— ० —

नवाँ अध्याय

भारतीय सभ्यता का स्वर्णकाल

(Classical Indian Civilization)

प्रस्तावना—भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता का स्वर्णयुग ईसा से पूर्व लगभग चौथी शताब्दी से प्रारम्भ होकर ईसा की सातवीं शताब्दी तक माना जा सकता है। यह तो प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो चुका है कि भारत की सभ्यता का प्रारम्भ प्रागैतिहासिक काल से हो चुका था जिसके पश्चात् हम सिंधु की घाटी की सभ्यता के रूप में मोहनजोदड़ो आदि स्थानों पर प्राप्त हुए हैं। परन्तु उसके पश्चात् भी भारतीय सभ्यता निरन्तर रूप और काल के अनुसार अपने को संशोधित और परिवर्तित करती रही है। द्रविड़ सभ्यता के पश्चात् आर्य सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ और दोनों के समन्वय द्वारा एक नवीन भारतीय संस्कृति का विकास हुआ जिसे कुछ विद्वान भारत की पौराणिक सभ्यता का नाम देते हैं। इसका रूप विकृत होने लगा तब बौद्ध और जैन धर्म प्रतिपादित किये गये और इनका धार्मिक रूप जनता जनार्दन के सामने उपस्थित हुआ। इन सब के समन्वय के फलस्वरूप जो संस्कृति सुसज्जित हुई वही भारतवर्ष की सभ्यता का स्वर्ण काल है जिसे कुछ विद्वान (Classical Indian Civilization) सनातन अथवा उच्च भारतीय सभ्यता का नाम देते हैं। इस समय भारतीय सभ्यता ने अपना कलेवर ही विकसित नहीं किया किन्तु अपने व्यापक विस्तार के साथ अन्य देशों पर अपना प्रभाव स्थापित करते हुए उन्हें भी उन्नति की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान की। स्वर्णकालीन भारतीय सभ्यता का अध्ययन हम सुविधा से तीन भागों में करेंगे। प्रथम, राज्यव्यवस्था और समाज; दूसरा बौद्धिक एवं सांस्कृतिक प्रगति और तीसरा, विदेशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध।

तत्कालीन राज्य व्यवस्था और समाज

भारतीय सभ्यता के स्वर्णकाल की राज्य व्यवस्था अत्यन्त सुन्दर थी। साधारणतया उस समय विशाल राज्य होते थे और राज्यों का विस्तार ही उनके जीवन की पहचान थी। स्थायित्व साम्राज्य की स्थापना शासकों का लक्ष्य होता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये राज्य सम्पन्न होते थे, सेना शक्तिशाली होती थी और युद्ध कौशल को बहुत महत्त्व दिया जाता था। इसलिये शासन व्यवस्था की दृष्टि से राज्यों का स्वरूप एकतन्त्रात्मक (राजतन्त्र) हो जाता था किन्तु गणराज्यों का प्रचलन भी था। राजतन्त्र व्यवस्था में राजा स्वयं शासन संचालन करता था और अपनी सहायता के लिये मन्त्री-परिषद् की व्यवस्था करता था। गणराज्यों में जनता के प्रतिनिधि शासन चलाते थे। गणराज्य भी कई प्रकार के होते थे परन्तु मूलरूप

से शासन क्षेत्र में एक ही सिद्धान्त काम में आता था जैसे राज्य की नीति का निर्धारण ये प्रतिनिधि ही करते थे राज्याध्यक्ष इन्हीं प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचित किया जाता था, चाहे जनसाधारण में से हो अथवा वंशानुक्रम राज्य परिवार में से कोई हो आदि आदि। राजतन्त्र में राजा निरंकुश होता था किन्तु शास्त्र मर्यादा और नियमों के कठोर प्रतिबन्धों के कारण वह वास्तव में जनता का सेवक होता था। वे मन्त्रीपरिषद के परामर्श से ही राज्य का काम काज करते थे। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ राजा लोग अपनी इच्छानुसार राज्य में साधारण से साधारण कार्य अथवा धन खर्च करने में असमर्थ रहे हैं।

राजनीति के सिद्धान्त—तत्कालीन युग में राज्य और राजा को एक ही रूप में माना गया था और राजा का अभाव समाज में अराजक स्थिति उत्पन्न कर देता था अर्थात समाज की व्यवस्था राजा के बिना सम्भव ही नहीं मानी गई थी इसीलिये शास्त्रों में उल्लेख किया है कि जब राजा नहीं था तब समाज में 'मत्स्य न्याय' की स्थिति थी और अब भी यदि राजा न रहे तो वही मत्स्य न्याय' की प्राकृतिक अवस्था उत्पन्न हो जायगी। जीवोजीवस्य भोजनम् का सिद्धान्त कार्यान्वित होने लग जायगा। इस प्रकार राजा ही समस्त सामाजिक व्यवस्था का मूल स्वीकार किया गया था। राजा की उत्पत्ति में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं। कहीं उसे भगवान के अंश से उत्पन्न माना है, कहीं भगवान का प्रतिनिधि स्वीकार किया है और कहीं देवताओं के अंश को लेकर राजा के निर्माण का वर्णन किया गया है। इन सब सिद्धान्तों का तात्पर्य यह है कि राजा समाज में सर्वोपरि है और ईश्वर का प्रतिनिधि है इसलिये हर स्थिति में उसकी आज्ञायें शिरोधार्य होनी चाहियें। कुछ लोग तो यह भी मानते हैं कि यदि राजा अनाचार करता है तो उसे प्रजा अपने बुरे कर्मों का दण्ड और अच्छा शासन करता है तो पुण्य का फल समझे। इस प्रकार राजा को बहुत ऊँचा उठा दिया है और सर्वशक्तिमान शासक बनाया है। किन्तु दूसरी ओर वह प्रजा का सच्चा सेवक भी है। राज्य का शासन वह वास्तव में स्वेच्छापूर्वक नहीं कर सकता था। तत्कालीन राजनीति अथवा दण्डनीति जो महर्षियों के शाश्वत चिन्तन के फल स्वरूप प्रणीत होती थी के आधार पर ही चलता था। दण्ड राजा से भी ऊपर समझा गया था, वह अच्छे राजा का पालक किन्तु पतित राजा के अनेक वर्गों को नष्ट करने वाला समझा जाता था। इसलिये राजा दण्ड के सिद्धान्तों का ही अनुसरण करता था। उसके लिये अनेक योग्य व्यक्तियों का परामर्श भी अनिवार्य था इसलिये मन्त्रीपरिषद का विधान था। मन्त्रियों की योग्यतायें निर्धारित की गई थीं। उसी राज्य के नागरिक, जो निर्भय शूर बुद्धिमान, कुलीन और दृढभक्त हो वही मन्त्री बन सकते थे। राज्य कर की मात्रा भी सिद्धान्तानुसार निश्चित की हुई थी—राजा स्वयं अपनी मनमानी करने में सर्वथा असमर्थ था। राज्याभिषेक के समय शपथ ग्रहण की जाती थी जिसमें शासक नैतिक मर्यादायें स्वीकार करता था और अपने कर्त्तव्यनिष्ठ बने रहने की प्रतिज्ञा करता था। जीवन भर ये प्रतिज्ञायें उनका मार्ग दर्शन करती थीं। इस शपथ का निर्वाह न करने वाला शासक 'प्रतिज्ञा

दुर्बल' कहा जाता था और उसकी निन्दा की जाती थी। इस प्रकार राज्य व्यवस्था के विषद सिद्धान्त प्रचलित थे। इस विषय पर अनेक ग्रन्थ भी लिखे गये थे, किन्तु अधिकांश अब प्राप्य नहीं हैं। अधिकांश ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें अन्य विषयों के साथ इन सिद्धान्तों का वर्णन हुआ है। तत्कालीन ग्रन्थों में चाणक्य का अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीति सार, महाभारत का राजधर्म पर्व आदि मुख्य हैं। इन ग्रन्थों का विशेष वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

प्रशासन—राजनैतिक सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप प्रशासन में प्रदान किया जाता था। उस समय साम्राज्य अथवा राज्य प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से बहुत सुन्दर ढंग से सगठित किया जाता था। प्रत्येक राज्य अनेक प्रान्तों में विभाजित किया जाता था। प्रान्तों का शासक गवर्नर, प्रान्तपाल या राज्यपाल के आधीन होता था। इस पद पर साधारणतया राजवंश के कुमार अथवा कुलीन व्यक्ति ही नियुक्त होते थे। सम्राट मन्त्रीपरिषद् की अनुमति से ये नियुक्तियाँ करता था। कुमारों अथवा प्रान्तपालों की सहायता के लिये प्रान्तीय मन्त्रीपरिषदें भी होती थीं और ये सब लोग मिलकर ही प्रान्त की सारी व्यवस्था सचालित करते थे। प्रान्त का विभाजन आहारों में होता था जिसे भुक्ति भी कहते थे। यह आज कल के डिवीजन की भाँति होता था। यहाँ का भी एक अध्यक्ष होता था। भुक्ति का विभाजन विषयों में होता था जो आजकल के जिले की भाँति होता था। इसमें लगभग एक हजार ग्राम होते थे। फिर सौ सौ गाँवों के अनुसार दस भाग किये जाते थे और प्रत्येक भाग का एक अफसर होता था। फिर प्रत्येक भाग के दस भाग किये जाते थे उसका भी एक अफसर होता था। फिर प्रत्येक ग्राम का स्तर भी और राज्य की ओर से भी एक अध्यक्ष होता था जिसे ग्रामणी, मुखिया अथवा पटेल कहते थे। सामन्त प्रथा का उस समय अभाव था। समस्त भूमि राज्य की मानी जाती थी। जनता की सुविधा के लिये अनेक कार्य किये जाते थे और आपत्तिकाल में राजा विशेष प्रबन्ध करता था। इस प्रकार व्यावहारिक शासन का सगठन आदर्श रूप में हुआ था।

विभिन्न विभागों की व्यवस्था—राज्य की व्यवस्था में प्रशासन विभाग तो मुख्य होता ही था किन्तु अन्य अनिवार्य विभागों का सगठन भी पूरा करके किया जाता था। न्याय विभाग, सुरक्षा विभाग, स्थानीय स्वशासन विभाग, स्वास्थ्य विभाग आदि अनेक ऐसे ही विभाग थे। चाणक्य ने ऐसे छत्तीस विभागों का वर्णन किया है। प्रत्येक विभाग एक अध्यक्ष के आधीन होता था जिसकी प्रतिष्ठा मन्त्रियों के समान ही होती थी और कभी ही योग्यतायें भी विभागाध्यक्ष के लिये अनिवार्य होती थीं। राज्य की सेवा में योग्यता को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया जाता था, तो भी अन्य योग्यताएँ नागरिकता, कुलीनता, कार्यकुशलता को भी दृष्टि में रखा जाता था। तत्कालीन विभागाध्यक्ष के विशेष पारिभाषिक ढंग से सम्बोधित किये जाते थे। उदाहरणार्थ राजस्व आयुक्त (Revenue Commissioner) को समाहर्त्ता, कोषाध्यक्ष (Treasury Officer) को कोष्ठागाराध्यक्ष और व्यापार एवं उद्योग आयुक्त

(Commissioner of Trade and Industry) को पथ्याध्यक्ष कहते थे। इस प्रकार प्रत्येक विभाग पूरी तरह से संगठित एवं व्यवस्थित था। इनमें से मुख्य एक दो विभागों के गठन का वर्णन हम यहाँ करते हैं वह प्रतीक रूप में पर्याप्त रहेगा।

न्याय विभाग—इस क्षेत्र में राज्य पूर्ण रूप से सिद्धान्तों का पालन करता था। तदनुसार राज्य में नियम सर्वोपरि होता था। मनीषियों द्वारा शास्त्रानुकूल नियम ही न्याय का आधार थे। व्यवहार में सम्राट ही सर्वोच्च न्यायाधीश होता था किन्तु वह नियम के विरुद्ध जाने में असमर्थ रहता था। न्याय की दृष्टि से दीवानी और फौजदारी दोनों शाखाएँ मानी गई थीं और दोनों ही प्रकार के न्यायालय होते थे। दीवानी को धर्मस्थीय और फौजदारी को 'कंटक शोधन' न्यायालय कहा जाता था। क्रमिक संगठन में सम्राट के पश्चात् न्याय मंत्री का स्थान था जिस पर अधिकांश ब्राह्मण (पुरोहित) को ही नियुक्त किया जाता था जो ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों को, अपराध और न्याय दोनों ही दृष्टि से दण्ड दे सकता था। उसके पश्चात् व्यौहारिक, प्रदेष्टा, राजुक आदि अनेक न्यायाधीश होते थे और प्रारम्भ में ग्राम की पंचायतें ही प्रथम न्यायालय होती थीं। निम्न न्यायालय के निर्णय की अपील सदैव ऊपर वाले न्यायालय में जा सकती थी। अंतिम अपील सम्राट के पास होती थी। वकील प्रथा भी अप्रत्यक्ष रूप में चल पड़ी थी। न्याय शुद्ध रूप में सम्पादित होता था। न्याय परीक्षा के अनेक उपाय प्रचलित थे जैसे अग्नि परीक्षा, जल-परीक्षा आदि। झूठी साक्षी भयंकर अपराध माना जाता था और उनके अंग भंग कर दिये जाते थे। भयंकर अपराधों के लिए प्राणदण्ड भी दिया जाता था। साधारण अपराधों के लिए हाथ, पैर नाक, कान आदि काटने की प्रथा प्रचलित थी। अर्थदण्ड भी दिया जाता था। फिर न्याय व्यवस्था उदार ही मानी जाती थी। अपराधों की संख्या गिरना, न्याय की उत्तम व्यवस्था और बढ़ना हीन व्यवस्था का द्योतक समझा जाता था। इस प्रकार तत्कालीन राज्यों में न्याय व्यवस्था की जाती थी।

सुरक्षा विभाग—मानव सभ्यता के विकास से लेकर आज तक राज्यों का मौलिक आधार सेना का संगठन ही है और रहेगा। वर्तमान समय में सैनिक सहायता से ही पल भर में राज्यों का स्वरूप बदल जाता है। इसीलिए प्राचीन काल में भी सेना का विभाग पूर्ण रूप से संगठित था। सेना में भी अनेक शाखायें होती थीं जैसे, जल सेना, स्थल सेना आदि और स्थल सेना में भी अश्वारोही, रथ सेना आदि संगठित होती थीं। सेना की व्यवस्था के लिए एक अलग परिषद भी होती थी जिसमें ३० सदस्य होते थे और उनकी ६ समितियां सम्पूर्ण कार्य की व्यवस्था करती थीं। वे नौ समिति, रसद और वाहन, पदाति अश्व, रथ और गज समितियां कहलाती थीं। चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य में चतुरंगिणी सेना थी जिसमें नौ हजार हाथी, आठ हजार रथ तीस हजार अश्वारोही और छः लाख पैदल थे। प्रत्येक हाथी पर चार और रथ में तीन सैनिक बैठते थे और कुल सेना मिलाकर छः लाख नब्बे हजार के लगभग थी। उसी समय नौ सेना भी संगठित होती थी और ऊँटों की सेना भी

प्रचलित हो गई थी। कवच का प्रचार भी उस समय था। सेना विभाग के प्रधान अलग अलग समय में विभिन्न रूप से सम्बोधित होते रहे हैं, जैसे सेनाध्यक्ष, महाबलाधिकृत, महाबलाध्यक्ष आदि। इस प्रकार सेना और सुरक्षा विभाग व्यवस्थित था।

स्थानीय स्वशासन विभाग—स्वायत्त संस्थायें वास्तविक प्रजातन्त्र की नींव होती हैं और भारतवर्ष में यह व्यवस्था सुदूर अतीत से ही रही है। ग्राम्य क्षेत्रों में और राजधानी और नगर क्षेत्रों (Urban areas) में नगरपालिकायें गठित रही हैं। राजनीतिक परिवर्तनों का प्रभाव भी इन संस्थाओं पर नहीं होता था और इन का स्थानीय जीवन अक्षुण्ण रूप से चलता रहता था। इसलिए ग्राम पंचायतों को यहाँ के समय अनेक यूरोपियन विद्वानों ने छोटे छोटे गणराज्य (Little Republics) की संज्ञा दी है। शिलालेख, पाण्डुलिपियों के सारे लिखित ग्रन्थ इन संस्थाओं की प्रगति के प्रसिद्ध प्रमाण हैं। मेगस्थनीज और चाणक्य ने इन संस्थाओं का अध्ययन किया था और उनके नगरों का दर्शन कर वे वास्तव में बहुत प्रसन्न हुए थे। पाटलिपुत्र की नगरपालिका उस समय ३० सदस्यों से बनी हुई थी जो छः समितियों द्वारा (प्रत्येक समिति में पाँच सदस्य होते थे) कार्य सम्पादन करती थी और प्रत्येक समिति का कार्य-भार स्वतन्त्र होता था। उद्योग एवं दस्तकार पर दृष्टि, जन्म मरण गणना, कर वसूल, वाणिज्य-व्यापार तथा बिक्रियों की व्यवस्था ये छः समितियाँ करती थीं। सार्वजनिक उपयोग कार्यों के लिए भवन निर्माण, सफाई, स्वास्थ्य आदि का कार्य ये सभी सदस्य सामूहिक रूप से मिल कर करते थे। इन संस्थाओं का चुनाव होता था और नियमों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड भी दिया जाता था। इन संस्थाओं के सदस्य साधारणतया अवैतनिक होते थे।

इसी प्रकार ग्राम व्यवस्था पंचायतों के हाथ में था। उनके अधिकार व्यापक थे। समस्त गाँव की एक ग्राम सभा होती थी। यह निर्वाचन द्वारा कुछ सदस्यों की समिति बनाती थी। ये सारी व्यवस्था करते थे। इनमें भी चुनाव होता था और ये भी प्रायः अवैतनिक अधिकारी थे। ग्राम की सफाई, स्वास्थ्य, मार्ग निर्माण, जल व्यवस्था आदि यही समिति कराती थी जिसे कहीं पंचायत और कहीं पंच मण्डली कहते थे। गाँवों में ये संस्थायें पवित्र समझी जाती थीं और 'पंच-परमेश्वर' की भावना अभी भी भारतवर्ष में चला आ रहा है। यह प्रथा अंग्रेजों के आने तक भारतवर्ष में चलती रही है।

इस प्रकार प्रशासन की दृष्टि से प्राचीन युग में भारतवर्ष वैज्ञानिक ढाँचे पर संगठित था। उपरोक्त वर्णन के अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि आवागमन के अच्छे साधन और मार्ग न होते हुए भी उस समय समस्त राज्य की तात्कालिक और शुद्ध सूचना नित्य राजधानी में आ जाती थी। ऐसी (News Reporters System) प्रतिवेदन व्यवस्था जमी हुई थी। एरियन नामक एक यूनानी विद्वान ने लिखा है कि

अधिक कर लगाने या वसूल करने का सन्देह नहीं था। यात्रियों की सुख सुविधा के लिए मार्ग निर्माण, वृक्षारोपण, कूप बनवाना, धर्मशालायें बनाना, दूरी सूचक पट्ट या प्रस्तर अंकित करवाना आदि कार्य भी राज्य करता था। जनता की सुख समृद्धि बढ़ाने के लिए व्यापार की सुविधायें देना, कृषि की उन्नति के लिए सिंचाई आदि की व्यवस्था भी राज्य करता रहता था। यह सारा कार्य तत्कालीन राज्य व्यवस्था द्वारा किया जाता था।

तत्कालीन समाज—प्राचीन भारत के स्वर्णकाल में समाज सुगठित था। यद्यपि दीर्घकाल व्यतीत हो जाने के कारण कुछ रूढ़ियाँ घर कर गई थीं और कुछ सिद्धान्त विस्मरण होकर दोष रूप में प्रतीत होने लगे थे तथापि उनका वास्तविक प्रचलित रहा। आश्रम व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था और संयुक्त परिवार प्रणाली द्वारा व्यक्ति, समाज और परिवार शास्त्रीय अनुशासन में बद्ध थे। बुद्ध और महावीर स्वामी ने जाति प्रथा के बढ़ते हुए दोष पर घोर प्रहार किया था जिससे जाति की मर्यादाएँ, जो अवांछनीय बन गई थीं, नष्ट भ्रष्ट हो गई किन्तु जातियों का अस्तित्व बना रहा। मेगास्थनीज ने मौर्य साम्राज्य के समय भारतवर्ष में मुख्य सात जातियों का उल्लेख किया है जिनमें दार्शनिक, कृषक, चरवाहे, शिल्पी, सैनिक, प्रतिवेदक तथा सभासद अथवा राजकर्मचारी सम्मिलित थे। समाज में घृणित कार्य करने वाले चाण्डाल, मांस विक्रेता आदि लोगों को निम्न श्रेणी का समझा जाता था और वे ग्राम की सीमा के बाहर ही निवास करते थे। नगर प्रवेश के समय वे घंटी बजाते हुए या आवाज करते हुए चलते थे ताकि वे किसी से स्पर्श न कर जायें। सन १९४७ तक भी यह प्रथा भारतवर्ष में हरिजनों के लिए प्रचलित थी। पशुओं का उपयोग सवारी के लिए भी होता था। हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि मुख्य पशु थे। समाज समृद्धि शाली था। उद्योग धन्धे व्यवस्थित और उन्नत थे, पड़ोसी देशों से गहरा व्यापार होता था। उच्च कर्मचारियों को सुन्दर वेतन मिलता था। लगभग ४८ हजार पण (वर्तमान समय के एक रुपये के समान) प्रतिवर्ष होता था। समाज में शांति स्थापित थी। दण्ड व्यवस्था कठोर थी। प्राणदण्ड भी दिया जाता था किन्तु फाह्यान ने उल्लेख किया है कि प्राणदण्ड की घोषणा उसने कभी नहीं सुनी। इससे प्रकट है कि समाज बहुत अच्छे ढंग से व्यवस्थित था। उपचार के हेतु बड़े-बड़े चिकित्सालय बनाये गए थे। रोगियों के निवास का प्रबन्ध भी होता था। इस सम्बन्ध में भारत यूरोप से लगभग १००० वर्ष पहले ही सचेत हो गया था। जनता में सचाई और ईमानदारी तथा अहिंसक प्रवृत्तियाँ मूल रूप से जागृत हो चुकी थीं। परस्पर व्यवहार अत्यन्त शिष्ट तथा स्नेह सिद्ध होता था। आतिथ्य गर्व की वस्तु माना जाता था। चोरियों का नाम नहीं था। यही युग था जब भारतवर्ष में ताले नहीं लगाए जाते थे। दूध घी की सरितायें प्रवाहित होती थीं और यह देश 'सोने की चिड़िया' कहाता था।

महिला समाज—उस समय समाज में महिलाओं की प्रतिष्ठा होती थी। "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" का अभ्यास होता था। किन्तु समाज में

बहु विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। इसके कई कारण थे। उस समय बड़े परिवार कई रूप में सुखकर और शक्तिदायक होते थे। इसलिए अपना संगठन बढ़ाने और मजबूत करने के लिए अनेक सन्तानों की उत्पत्ति सामाजिक प्रतिष्ठा का कारण मानी जाती थी। बहुत से लोग सन्तानरहित होने की स्थिति में पौराणिक विश्वासों के अनुसार 'पानी देने वाला' अथवा पूर्वजों का 'उद्धार' करने वाला उत्पन्न करने के ध्येय से बहु विवाह करते थे। कुछ लोग केवल आनन्द के हेतु भी ऐसा करते थे इसमें सन्देह नहीं है। कौटिल्य ने यह लिखा है कि पुरुष कितने ही विवाह कर सकता है और स्त्रियाँ सन्तानोत्पत्ति के लिए ही होती हैं। पुरुष और स्त्रियों सभी को विशेष स्थिति में पुनर्विवाह की स्वतन्त्रता थी। इन परिस्थितियों का उल्लेख, मनुस्मृति और अर्थशास्त्र में पर्याप्त विस्तार के साथ हुआ है नियोग प्रथा और दहेज भी प्रचलित था किन्तु बहुत कम। कालान्तर में जाकर स्त्रियों का स्थान समाज में पूर्ववत नहीं रहा। वे पूर्णरूपेण पुरुष के आधीन होती चली गई। उनका क्रय विक्रय होने लगा और सामाजिक प्रतिष्ठा का भी ह्रास और अभाव होता चला गया। फिर भी गुप्तकालीन भारत में महिलाओं का स्थान अच्छा था। उनकी शिक्षा के लिए सुन्दर व्यवस्था थी। विवाह पवित्र संस्कार माना जाता था। स्त्रियों को अपने पिता की सम्पत्ति में उत्तराधिकार का अधिकार तो नहीं था किन्तु स्त्रीधन का महत्व बहुत अधिक था। किशोरावस्था में ही कन्याओं का विवाह कर देने का नियम सा था। विधवा विवाह भी होते थे किन्तु कम। इसी युग में सती प्रथा भी चल पड़ी थी किन्तु अधिक व्यापक नहीं हुई थी। विदेशी आक्रमणों के कारण स्त्रियाँ पर्दे में रहने लगी थीं। इस प्रकार महिलाओं का समाज बहुत ऊँची अवस्था में तो नहीं था किन्तु फिर भी सामान्य स्तर भी अवश्य था।

नागरिक जीवन—तत्कालीन समाज का जीवन बहुत सरल था। साधारण भोजन और अति सरल वेशभूषा का प्रचलन था। मांसाहार प्रचलित था। पशु-पक्षियों का संहार और शिकार किया जाता था किन्तु बौद्ध और जैन धर्म से इस ओर पर्याप्त शान्ति स्थापित हो गई थी। सुरा का प्रचार भी बहुत था। सरकार की आय साधारण रूप से मद्य विभाग द्वारा बहुत होती थी। मद्य की व्यवस्था बड़ी-बड़ी दुकानों में की जाती थी। सेवन और पीने का स्थान भिन्न होता था। ये स्थान पुष्पादि सजाकर आकर्षित बनाए जाते थे और वहाँ सब प्रकार के ऐश आराम की व्यवस्था भी होती थी। दासियाँ और रूपाजीवायें वहाँ सेवा करती थीं। परन्तु *सार्वजनिक स्थानों पर मद्य पान निषिद्ध था। इन स्थानों पर स्वदेशी और विदेशी* सभी प्रकार की शराब का प्रयोग नियमानुकूल था। विदेशी मद्य पर कर अधिक लगाया जाता था। इनकी दुकानों और स्थानों के लिए राज्य की स्वीकृति (लाइसेंस) अनिवार्य होती थी और इसके उपलक्ष में कुछ शुल्क भी जमा करना पड़ता था।

नागरिक जीवन में प्रफुल्लता और आनन्द बनाए रखने के लिए आमोद प्रमोद को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। तत्कालीन समाज में संगीत, नृत्य,

त्योहार, शिकार, शांत-खेल (in door-games) और क्षेत्र खेल (out door-games) का बहुत प्रचार था। समाज में कुछ लोगों का यह व्यवसाय ही था कि वे नागरिकों का मनोविनोद करते हुए ही जीवनयापन करें, जैसे नट नर्तक, गायक वादक, बाजीगर नालवेलिया, बन्दर और रीछ नचाने वाले मदारी और चुटकले और पद्य-बद्ध विरदावलि और अन्य हास्य रस का काव्य सुनाने वाले भाट और चारण इसी श्रेणी में आते हैं। पूरे समाज की दृष्टि से नगर में ऐसी संस्थायें नाट्यशालायें रंगमंच आदि की व्यवस्था भी होती थी। राज्य का इन सब क्रिया कलापों पर पूर्ण नियन्त्रण होता था।

इसी प्रकार भारत की सभ्यता का स्वर्ण काल कैसा था यह भली भांति ज्ञात हो जाता है और तत्कालीन राज्य-व्यवस्था और समाज के सम्बन्ध में अनेक प्रश्नों का हमें पर्याप्त परिचय मिलता है। इसलिए उपरोक्त आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजनैतिक और नागरिक क्षेत्र में प्राचीन भारत बहुत अग्रसर हो चुका था और अन्य देशों के समक्ष तुलना की दृष्टि से भी काफी उन्नत और अग्रसर था, यह सिद्ध होता है।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१ भारत की सभ्यता के स्वर्णकाल से आप क्या समझते हैं विस्तारपूर्वक लिखिए।

२ भारत के स्वर्णकाल के समय के राजनैतिक सिद्धान्त और प्रशासन की व्याख्या कीजिए।

३ तत्कालीन भारत का नागरिक-जीवन कैसा था—इस विषय पर निबन्ध लिखिए।

४ भारत के स्वर्णकाल में महिलाओं की स्थिति कैसी थी—वर्णन कीजिए।

— o —

ग्यारहवाँ अध्याय

बौद्धिक एवं सांस्कृतिक प्रगति

प्रस्तावना—भारतीय इतिहास के इस काल में बौद्धिक एवं सांस्कृतिक प्रगति अत्यधिक उन्नत हुई थी। यह स्वाभाविक था कि जहाँ राजनैतिक शान्ति व आर्थिक आधार पर विकसित और [illegible] हो रहा था तथा समाज का आधार [illegible] सुदृढ़ और परिष्कृत बन रहा था वहाँ साहित्य और कला की प्रगति अवश्यम्भावी थी। समृद्धि का प्रभाव सदैव साहित्य और संस्कृति एवं कला [illegible] द्वारा ही दिखाई देता है। [illegible] इस काल में भारतवर्ष में बौद्धिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में अनेक [illegible] किए गए। कला की समृद्धि का [illegible] की दशा का [illegible] स्तर के प्रसार है और आज भी [illegible] गौरव के विषय है। हम यहाँ इस काल की प्रगति का [illegible] में वर्णन करेंगे।

साहित्य एवं कला—[illegible] साहित्य और कला की [illegible] उन्नति का युग था। उस समय भारतवर्ष में शिक्षा का बहुत प्रसार था और उसकी व्यवस्था का आधार [illegible] था। [illegible] शिक्षा [illegible] था। शिक्षा [illegible] की जाती थी और शिक्षा [illegible] गुरुकुल [illegible] जाती थी। [illegible] शिक्षा का [illegible] ऊँचा [illegible] था। [illegible] समाज में [illegible] था। माता पिता का [illegible] राज्य के [illegible] की ओर से सहायता भी दी जाती थी। [illegible] विश्वविद्यालयों का प्रचलन था और विशेषता (specialization) की प्रथा थी [illegible] नालन्दा [illegible] प्रसिद्ध थे। [illegible] समस्त विद्याएँ एवं [illegible] आदि [illegible] व्याकरण, गणित आदि विविध विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती थी। इस प्रकार शिक्षा का स्तर अति उच्च, उत्तम और स्वतन्त्र था।

जब शिक्षा प्रसार बहुत था तो साहित्यिक स्तर का ऊँचा होना भी स्वाभाविक था। प्रारम्भिक काल की रचनाएँ अधिकांश संस्कृत, पाली और प्राकृत में होती थीं। अर्थशास्त्र, धर्म-सूत्र तथा मनु आदि ग्रन्थ इसी युग की रचनायें हैं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र इसी युग की अमूल्य रचना [illegible] आज भी भारतीय प्राचीन राजनीति के सिद्धान्त का अमूल्य ग्रन्थ है। भद्रबाहु का 'कल्पसूत्र' [illegible] सुन्दर [illegible] के लिए प्रसिद्ध है। न्याय और मीमांसा के ग्रन्थों का सृजन हुआ। व्याकरण ग्रन्थ लिखे गए। कात्यायन आदि प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य भी इसी युग में उत्पन्न हुए थे। धीरे धीरे संस्कृत भाषा ही अधिक लोकप्रिय बन गई

और बौद्ध और जैन धर्मावलम्बियों ने भी अपने ग्रन्थ इसी भाषा में लिखना आरम्भ कर दिया। प्राकृत और पाली भाषा के गौण हो जाने से संस्कृत भाषा की और भी अधिक उन्नति हुई। इसीलिए यह संस्कृत भाषा का स्वर्णकाल कहा जाता है। संस्कृत भाषा और साहित्य की सर्वांगीण उन्नति इसी युग में हुई और महाकवि कालिदास ने इस उन्नति में चार चाँद लगा दिये। कालिदास ने शकुन्तला, विक्रमोर्वशी, मालविकाग्निमित्र तीन नाटक और रघुवंश, मेघदूत और कुमारसम्भव तीन काव्य लिखे हैं। नाटकों में शकुन्तला अत्यन्त लोकप्रिय है और यह माना जाता है कि इसका अध्ययन प्रत्येक संस्कृत भाषी विद्वान के लिए अनिवार्य है। इस समय विश्व की लगभग समस्त मुख्य भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। इसमें शकुन्तला और दुष्यन्त की प्रेमपूर्ण कथा है। विक्रमोर्वशी में विक्रम और उर्वशी तथा मालविकाग्निमित्र में मालविका और अग्निमित्र की प्रेम कथायें हैं। उनके काव्यों में रघुवंश में महाराज दिलीप से लेकर भगवान राम तक का सुन्दर वर्णन है और बाद में राम के विरह में अयोध्या की स्थिति का मर्मस्पर्शी चित्रण है। मेघदूत में यक्ष और यक्षिणी (उसकी पत्नी) के विरह का सुन्दर चित्रण है जिसमें यक्ष मेघ के माध्यम से अपनी विरह कथा और सन्देश अपनी प्रियतमा के पास भेजता है और अलकापुरी का मार्ग बताता है। यह बहुत सुन्दर रचना है। कुमारसम्भव में शिव-पार्वती और स्वामी कार्तिकेय के जन्म का वर्णन है। इसमें असुरों का संहार और शिव-पार्वती वार्ता बहुत सुन्दर लिखी गई है। इन ग्रन्थों में जैसे ऊँचे भाव हैं भाषा भी उन्हीं के अनुसार सरल अथवा गम्भीर, परिष्कृत और काव्यमयी बन गई है। वास्तव में कालिदास कवि शिरोमणि थे। भास भी इस युग का उत्तम नाटककार और कवि था। विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, भारवि का 'किरातार्जुनीय' और शूद्रक का 'मृच्छकटिका' भी तत्कालीन साहित्य के महत्त्वपूर्ण रत्न हैं। इन सभी साहित्यकारों द्वारा भारत का तत्कालीन युग साहित्य का स्वर्णकाल कहा जाता है।

कला के क्षेत्र में स्थापत्यकला, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, ललितकला तथा संगीत कला आदि में भी सर्वांगीण उन्नति हुई थी। अशोक के समय के स्तम्भ जो एक ही पत्थर पर बनाये गये हैं, उनकी कला आज भी मनुष्य को आश्चर्यान्वित करने में सफल हैं। उनकी चिकनाई नकली पालिश की भाँति दिखाई पड़ती है जिसमें देखने वाले की प्रतिच्छाया भी दिखाई देती है। ये बहुत भारी और लम्बे हैं। कई एक स्तम्भ पचास फीट तक ऊंचे और १३५० मन तक के भारी हैं। स्तम्भों के तीन भाग होते हैं—भूगर्भ भाग, तना और शीर्ष भाग। प्रथम भाग भूमि में गड़ा होता था, दूसरा भाग उससे ऊपर और तीसरा उससे भी ऊपर होता था। शीर्ष भाग या शिखर में सिंह, घोड़ा, अथवा बैल आदि के चित्र खुदे हैं। बुद्ध धर्म का प्रतीक चक्र भी उसमें अंकित है। ये चतुर्सिंह और धर्म चक्र अब हमारा राष्ट्रीय चिन्ह स्वीकार किया गया है। इन पशुओं के चित्रों में वास्तविक गति और वेग दिखाया गया है। इसी प्रकार अशोक के राजप्रासाद भी विलक्षण ढंग से बने हुए हैं। स्तूप का तोरण और शिखर भी प्रशंसनीय है। इसी के साथ मूर्तिकला का

विकास भी असाधारण रूप से हुआ था। देवी देवताओं की मूर्तियाँ बनाने की साधारण प्रथा सी बन गई थी। गुप्तकाल में भी यह कला उन्नत थी किन्तु उसके बाद मुसलमानों ने धर्म के नाम पर समस्त धार्मिक स्थानों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। इस समय सभी धर्मों के अन्तर्गत मूर्तियाँ बनी थीं। वृक्ष स्त्रियाँ पशु, लता पुष्प और स्त्री देवताओं की अनेक भावभंगिमा में मूर्तियाँ बनाई गई थीं। इसी प्रकार उनके आकार प्रकार आदि भी भिन्न भिन्न होते थे। देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, जैन तीर्थंकर तथा देवियों में दुर्गा, उमा, सरस्वती आदि की प्रतिमायें मुख्य थीं। झांसी में देवगढ़ ग्राम का विष्णु मन्दिर, कानपुर में भितरगांव का विशाल मन्दिर, मध्यप्रदेश में भूमरा का शिव मन्दिर, सारनाथ के स्तूप आदि तत्कालीन कला कृतियों के अनुपम उदाहरण हैं।

चित्र कला के क्षेत्र में प्रगति उल्लेखनीय हुई थी। गुफा भवनों का निर्माण और फिर उनमें भित्ति चित्रों का बनाना तत्कालीन कला प्रियता का सुन्दर उदाहरण है। अजन्ता की गुफाओं में चित्रकला का अद्भुत भण्डार है। इनमें २८ विहार और ४ चैत्य हैं। दीवारों तल की सतहों, छतों और स्तम्भों पर आकर्षक चित्र अंकित हैं। इनके विषय में मनुष्य के भाव, नागरिक जीवन का प्रदर्शन तथा निवास, वस्त्र, भूषण आदि स्पष्ट हो जाता है। इसके समान ग्वालियर के बाघ गुफाओं के चित्र भी प्रसिद्ध हैं। तत्कालीन स्वर्णमुद्रायें भी कला से प्रभावित हैं। उनका निर्माण कलात्मक ढंग से हुआ है, यह प्रकट होता है। तलवार, धनुष, बर्छी आदि अस्त्र प्रकार के चिन्ह मुद्राओं पर सजीव रूप में अंकित किये गये हैं। इसके साथ साथ संगीत विद्या का विकास भी हुआ था। समुद्रगुप्त को एक प्रकार की मुद्रा में वीणा बजाते चित्रित भी किया गया है। इससे प्रकट होता है कि वह संगीत प्रेमी था। गांव नगरों में नाटकों का प्रचार भी अधिक था। नाट्य ग्रन्थ भी बड़े प्रकार के थे। किन्तु कालिदास आदि ग्रन्थों से यह भी सिद्ध होता है कि यह कला जन साधारण के वश की बात नहीं थी। सम्भव है संगीत आदि कलायें केवल उच्च कुलीन और समृद्धिशाली लोगों तक ही सीमित था। इस प्रकार भारतीय सभ्यता के स्वर्णकाल में साहित्य और कला की उत्कृष्ट उन्नति हुई था यह सिद्ध होता है।

विज्ञान की प्रगति—इसी युग में विज्ञान के क्षेत्र में भी अनवरत नए नए विषयक गणित और विज्ञान की आशातीत ही उन्नति हुई। आर्यभट्ट और वराहमिहिर इसी युग में अवतरित हुए हैं। वराहमिहिर के ज्योतिष ग्रन्थ 'पंच सिद्धान्तिका' तथा बृहज्जातक, बृहत् संहिता, लघु जातक आदि और आर्यभट्ट का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आर्यभट्टीय' आज भी बहुत महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। गणित के क्षेत्र में वर्ग, त्रिकोण, शून्य, अंकों का (१ से ६ तक) प्रयोग और ज्यामिति, बीजगणित आदि का विस्तार और आविष्कार भी इसी समय में हुए हैं। यहां से अंक पद्धति पहले पश्चिमी एशिया और बाद में यूरोप में पहुँची। इसी प्रकार आयुर्वेद के क्षेत्र में भारतवर्ष ने बहुत उन्नति की थी। चरक और सुश्रुत नामक इसी समय उत्पन्न हुए थे। इन्होंने आयुर्वेद पर 'चरक संहिता' (चरक द्वारा) और 'सुश्रुत संहिता,'

(सुश्रुत द्वारा) बहुत सुंदर और विलक्षण ग्रंथ लिखे हैं जिनमें रोग के निदान से लेकर उसके उपचार, शल्य चिकित्सा, औषधि उसके गुण और प्रभाव आदि समस्त विषयों का विवरण है। यह ईसा की लगभग दूसरी शताब्दी से प्रयोग आया और अठारहवीं शताब्दी तक समस्त विश्व में अत्यधिक सफल और सुगम चिकित्सा पद्धति के रूप में चलता रहा। कालांतर में इसी क्षेत्र में इस पद्धति का विकास हुआ और अनेक ग्रंथ भी लिखे गये। विभिन्न धातुओं के संसर्ग से पारे को रस में बदलना और धातुओं की भस्म बनाना भी इसी समय आरम्भ हुआ। इससे यह प्रकट होता है कि भारतीय लोग किसी भी क्षेत्र में सन्तोषी होकर शान्त नहीं बैठ रहते थे वरन प्रत्येक क्षेत्र में नये नये आविष्कार करते रहते थे और बहुत अधिक चतुर, वैज्ञानिक और परिश्रमशील थे। यह समस्त उन्नति भारत की सभ्यता के स्वर्णकाल की ही मानी जाती है। इनमें से अनेक बातें आज भी मनुष्य के लिए कौतूहल पैदा करने में सफल हो जाती हैं। वास्तव में विज्ञान का चमत्कार सदैव से इसी प्रकार रहा है।

धार्मिक प्रगति—धार्मिक क्षेत्र में सनातन धर्म और बौद्ध धर्म का संघर्ष केवल प्रारम्भ में रहा। कालांतर में दोनों धर्मों का समन्वय हो गया और फिर ब्राह्मण धर्म ही बढ़ने लगा ऐसा प्रतीत होता है। पुनः यज्ञ बलि श्राद्ध आदि प्रभावशाली होने लगे और देवी देवताओं की मान्यता बढ़ने लगी। प्रत्येक देवता का अलग मन्दिर बनने लगा। इस प्रकार से धर्म का रूपान्तर हो गया। यज्ञ का स्थान धीरे धीरे भक्ति ने लेना आरम्भ कर दिया। देवताओं के रूप भी बदलने लगे और उनकी उपासना पद्धति भी। मनोवाञ्छायें पूर्ण करने के लिए देवताओं से याचना की जाती थी और उन्हें प्रसन्न करने के उपाय भी किये जाते थे। धार्मिक ग्रंथों की युगानुसार रचना हुई और प्राचीन ग्रंथों में संशोधन भी किए गए। भारतीय धर्म इस प्रकार समयानुकूल बनाया गया। फिर भी यह कह सकते हैं कि प्रमुख विशेषतायें और मुख्य आधार वे ही बने रहे। उदाहरणार्थ—ब्रह्मा विष्णु महेश और कुछ देवियों की मान्यतायें पूर्ववत चलती रहीं। भगवान के अनेक रूपों का वर्णन किया गया। शेष शय्या पर भगवान का शयन और उनकी नाभि से ब्रह्मा की उत्पत्ति और ब्रह्मा द्वारा सृष्टि का सृजन आदि विश्वास प्रचलित रहे। गीता जी का 'यदा यदा ही धर्मस्य' में दृढ़ विश्वास होने लगा। भगवान के अनेक अवतार राम, कृष्ण नृसिंह वामन, कच्छप मत्स्य, वराह आदि की मान्यता बढ़ी। अठारह पुराणों का नया संस्करण हुआ। परन्तु देवताओं में से अन्त में 'त्रिमूर्ति' ही लोकप्रिय रही और इनमें से भी शिव अत्यधिक लोकप्रिय बन गये। समस्त भारत के कोने-कोने में नगर, पहाड़ी, मार्ग आदि सभी स्थानों पर शिव मंदिर पाये जाते हैं। ब्रह्मा की पूजा कम हुई। इस समय ब्रह्मा के मंदिर केवल इने गिने हैं। विष्णु भी शिव के बाद लोकप्रियता में दूसरा स्थान पाते हैं। धीरे धीरे अन्य देवी देवताओं की भी उपासना होने लगी। देवी के भी अनेक रूप हैं कुछ देवों की गृहिणी हैं और कुछ कुमारियाँ हैं। इनमें पार्वती, दुर्गा, लक्ष्मी सरस्वती आदि हैं इनके वाहनों की

विचित्रता भी ध्यान देने योग्य है। शिवजी का नृत्य (वर्णन) विष्णु का गरुड़ और दुर्गा का सिंह अधिकांश लोकप्रिय है।

ब्राह्मण धर्म के प्रभाव से बौद्ध और जैन धर्म में भी देव और देवियाँ प्रकट हो गई। प्रतिमाएँ बनने लगीं और पूजा आरम्भ हो गई। इस प्रकार सभी धर्मों के अनुयायी अपनी सुविधानुसार विभिन्न देवताओं में श्रद्धा करने लगे और उन्हीं की उपासना द्वारा अपने कार्यों की सिद्धि का प्रयत्न करते थे। इसी प्रकार तीर्थयात्रा की प्रथा भी लोकप्रिय बनी। शंकराचार्य द्वारा प्रसिद्ध मठस्थानों की स्थापना और बद्री विशाल जगन्नाथपुरी सेतुबन्ध रामेश्वरम और द्वारिकापुरी चारों दिशाओं में चारों तीर्थों को मान्यता देकर तीर्थयात्रा की परम्परा को भारतीय जीवन का एक आवश्यक अंग बना दिया। तन्त्र मन्त्र का विश्वास भी न्यूनाधिक प्रचलित रहा। इस युग की एक और बात भी ध्यान देने योग्य है वह है तत्कालीन शासकों और सम्राटों की उदारता। अशोक ने स्वयं बौद्ध धर्म स्वीकार किया किन्तु उसने प्रजा पर यह धर्म थोपा नहीं। इसी प्रकार भागवत में कभी भी बाद राजधर्म नहीं रहा। अन्य धर्मों के प्रति सबके ही उदारता की नीति अपनाई गई। धर्म के प्रति दमन नीति से भारत अपरिचित है। इसलिए यहाँ कहा जा सकता है कि यहाँ धार्मिक प्रगति सदैव ही भिन्न धर्मों की ओर होती गई और इसी का यह फल है कि धार्मिक सहिष्णुता भारतीय जीवन का एक सर्वोत्कृष्ट विशेषता माना जाता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ इस युग का साहित्य और कला की प्रगति का विस्तार से वर्णन कीजिये।
२ इस युग की वैज्ञानिक और धार्मिक उन्नति पर निबन्ध लिखिए।

— ० —

बारहवाँ अध्याय

विदेशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध

प्रस्तावना—भारतीय सभ्यता के स्वर्णकाल में भारतवर्ष ने केवल राजनैतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में ही उन्नति की हो अथवा केवल बौद्धिक एवं सांस्कृतिक प्रगति से ही सन्तुष्ट रहा हो, ऐसा नहीं था। अपनी समृद्धि, क्षमता और कर्त्तव्य दृष्टि से प्रेरित होकर भारतीय नागरिक विदेशों की ओर भी गये और समय तथा स्थिति के अनुसार राज्य, उपनिवेश या व्यापार स्थापित किया। साथ ही साथ मातृभूमि का स्नेह बराबर बनाये रखने के लिए, इन्हीं लोगों ने अपनी संस्कृति के सभी महत्वपूर्ण तत्त्वों को अपने जीवन का अंग भी बना लिया। बहुत बड़ी संख्या में इन्हीं के साथ ऐसे लोग भी गये जिनका एक मात्र उद्देश्य धर्म प्रचार, संस्कृति विस्तार, जन मस्तक वृद्धि अथवा सभ्यता प्रदान करने का था। इन्हीं के साथ भारतीय परम्पराएँ, रीति रिवाज, भाषा, साहित्य और संस्कार भी विदेशों में पहुँचे थे। वर्तमान समय में विभिन्न स्थानों पर अनेक ऐसे अवशेष प्राप्त हुए हैं जैसे मन्दिर, शिलालेख, नाम, भाषा, ग्रन्थ आदि जिनसे उन स्थानों का भारतवर्ष से सम्बन्ध सिद्ध होता है। यही इस बात के प्रमाण हैं कि भारत के विदेशों के साथ अत्यन्त गहरे सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे हैं। अब इसी विषय का हम अध्ययन करेंगे।

भारतवर्ष की स्थिति—सभ्यता और संस्कृति के विकास की दृष्टि से भारतवर्ष का अत्यन्त सभ्य और संस्कृत देश होना अनिवार्य था। हम पूर्व के अध्यायों में यह देख आए हैं कि सभ्यता नदी की घाटियों में विकसित हुई थी। भारतवर्ष इस दृष्टि से पूर्ण रूपेण नदियों का ही देन है। सिन्धु की घाटी, गंगा यमुना की घाटी, ब्रह्मपुत्र की घाटी, कृष्णा, गोदावरी की घाटी आदि सर्वत्र सरिताओं का प्रसार है, इसलिए नदीकालीन सभ्यता की दौड़ में भारतवर्ष अवश्य अग्रणी रहा है। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष की साधारण भौगोलिक स्थिति भी बहुत अनुकूल थी। क्षेत्रफल की दृष्टि से देखा जाय तो भारतवर्ष तत्कालीन युग में बहुत बड़ा राज्य था। मार्गों की दृष्टि से देखा जाय तो इसे जल और स्थल दोनों मार्गों की सुविधा थी। पड़ोस की दृष्टि से देखा जाय तो किसी एक ही ओर के देशों पर इसे निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं थी वरन् चारों ओर के देशों से समीप था और इन सबसे अधिक विशेष महत्त्व की बात थी भारतवासियों की समृद्धि और उसके साथ सहिष्णु धर्म धारणायें। इन विशेषताओं के कारण ये किसी का सचमुच शोषण नहीं करते थे। अपनी समृद्धि से दूसरों को सांसारिक दृष्टि से सुखी बनाना चाहते थे और इसके साथ सरल और सत्य धर्म की शिक्षा का उदारतापूर्वक पुट उनके सौजन्य के सुवर्ण को सुगन्धित बना देता था। यहाँ के शिल्पी और कलाकार जाकर दूसरे देशों को कला से बनाने में जुट जाते थे। इसलिए एक भी घटना ऐसी ज्ञात नहीं है जहाँ भारतवा-

विचित्रता भी ध्यान देने योग्य है। शिवजी का नन्दी (वृषभ), विष्णु का गरुड़ और दुर्गा का सिंह अधिकांश लोकप्रिय हैं।

ब्राह्मण धर्म के प्रभाव में बौद्ध और जैन धर्म में भी देव और देवियाँ प्रकट हो गईं। प्रतिमायें बनने लगीं और पूजा आरम्भ हो गई। इस प्रकार सभी धर्मों के अनुयायी अपनी सुविधानुसार विभिन्न देवताओं में श्रद्धा रखने लगे और उनकी उपासना द्वारा अपने कार्यों की सिद्धि की अपेक्षा करते थे। इसी प्रकार तीर्थयात्रा की प्रथा भी लोकप्रिय बनी। शंकराचार्य द्वारा प्रसिद्ध मठों की स्थापना और बद्री विशाल, जगन्नाथपुरी, सेतुबन्ध रामेश्वरम् और द्वारिकापुरी चारों स्थानों में चारों तीर्थों को मान्यता देकर तीर्थयात्रा की परम्परा को भारतीय जीवन का एक आवश्यक अंग बना दिया। तन्त्र मन्त्र का विश्वास भी न्यूनाधिक प्रचलित रहा। इस युग की एक और बात जो ध्यान देने योग्य है वह है तत्कालीन शासकों और सम्राटों की उदारता। अशोक ने स्वयं बौद्ध धर्म स्वीकार किया किन्तु अपनी प्रजा पर यह धर्म थोपा नहीं। इसी प्रकार भारतवर्ष में कभी भी कोई राजधर्म नहीं रहा। अन्य धर्मों के प्रति सम्राटों ने उदारता की नीति अपनाई। धर्म के प्रति इस नीति से भारत परिचित है। इसलिए यही कहा जा सकता है कि यहाँ धार्मिक प्रगति सदैव ही विभिन्न धर्मों की ओर होती गई और इसी का यह फल है कि धार्मिक सहिष्णुता भारतीय जीवन की एक सर्वोत्कृष्ट विशेषता मानी जाती है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. इस युग की साहित्य और कला की प्रगति का विस्तार से वर्णन कीजिये।
२. इस युग की सामाजिक और धार्मिक उन्नति पर निबन्ध लिखिये।

— o —

बारहवाँ अध्याय

विदेशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध

प्रस्तावना—भारतीय सभ्यता के स्वर्णकाल में भारतवर्ष ने केवल राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में ही उन्नति की हो अथवा केवल बौद्धिक एवं सांस्कृतिक प्रगति से ही सन्तुष्ट रहा हो, ऐसा नहीं था। अपनी समृद्धि क्षमता और कर्तव्य दृष्टि से प्रेरित होकर भारतीय नागरिक विदेशों को पार भी गये और समय तथा स्थिति के अनुसार राज्य उपनिवेश या व्यापार स्थापित किया। साथ ही साथ मातृ भूमि का स्नेह बराबर बनाये रखने के लिए, इन्हीं लोगों ने अपनी संस्कृति के सभी महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को अपने जीवन का अंग भी बना लिया। बहुत बड़ी संख्या में इन्हीं के साथ ऐसे लोग भी गये जिनका एक मात्र उद्देश्य धर्म प्रचार, संस्कृति विस्तार जन सम्पर्क वृद्धि अथवा सभ्यता प्रदान करने का था। इन्हीं के साथ भारतीय परम्परायें रीति-रिवाज भाषा, साहित्य और संस्कार भी विदेशों में पहुँचे थे। वर्तमान समय में विभिन्न स्थानों पर अनेक ऐसे अवशेष प्राप्त हुए हैं जैसे मन्दिर शिलालेख नाम भाषा ग्रन्थ आदि जिनसे उन स्थानों का भारतवर्ष से सम्बन्ध सिद्ध होता है। यही इस बात के प्रमाण हैं कि भारत के विदेशों के साथ अच्छे गहरे सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे हैं। अब इसी विषय का हम अध्ययन करेंगे।

भारतवर्ष की स्थिति—सभ्यता और संस्कृति के विकास की दृष्टि से भारतवर्ष का अत्यन्त सभ्य और संस्कृत देश होना अनिवार्य था। हम पूर्व के अध्यायों में यह देख आए हैं कि सभ्यता नदी की घाटियों में विकसित हुई थी। भारतवर्ष इस दृष्टि से पूर्ण रूपेण नदियों का ही देश है। सिन्धु की घाटी गंगा यमुना की घाटी, ब्रह्मपुत्र की घाटी कृष्णा गोदावरी की घाटी आदि सर्वत्र सरिताओं का प्रसार है, इसलिए नदीकालीन सभ्यता की दौड़ में भारतवर्ष अवश्य अग्रणी रहा है। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष की साधारण भौगोलिक स्थिति भी बहुत अनुकूल थी। क्षेत्रफल की दृष्टि से देखा जाय तो भारतवर्ष तत्कालीन युग में बहुत बड़ा राज्य था। मार्गों की दृष्टि से देखा जाय तो इसे जल और स्थल दोनों मार्गों की सुविधा थी। पड़ोस की दृष्टि से देखा जाय तो किसी एक ही ओर के देशों पर इसे निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं थी वरन् चारों ओर के देशों से समीप था और इन सबसे अधिक विशेष महत्त्व की बात थी भारतवासियों की समृद्धि और उसके साथ सहिष्णु धर्म धारणायें। इन विशेषताओं के कारण ये किसी का सचमुच शोषण नहीं करते थे। अपनी समृद्धि से दूसरों को सांसारिक दृष्टि से सुखी बनाना चाहते थे और इसके साथ सरल और सत्य धर्म की शिक्षा का उदारतापूर्वक पुट उनके सौजन्य के सुवर्ण को सुगन्धित बना देता था। यहाँ के शिल्पी और कलाकार जाकर दूसरे देशों को धनी बनाने में जुट जाते थे। इसलिए एक भी घटना ऐसी ज्ञात नहीं है जहाँ भारतवा-

का विरोध हुआ हो या इन्होंने बलपूर्वक अपने को बसाया हो, राज्य स्थापित किया हो। यह है भारतीय स्थिति जो विदेशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्धों के लिए उत्तरदायी है।

विदेशों के साथ सम्बन्ध मार्ग—वैसे तो रामायण आदि के प्रसंगों से यह प्रकट होता है कि वायु मार्ग भी भारतवर्ष में प्रयुक्त होते थे और हमारे देवताओं के वाहन, जैसे विष्णु का वाहन, गरुड़ भी इसी ओर संकेत करते हैं, किन्तु फिर भी ठोस प्रमाण के अभाव में हम उसे नहीं मानें तो भी जल और स्थल मार्ग द्वारा भारतीय सभ्यता के प्रसार के लिए चुने हुए थे। स्थल मार्ग में खैबर और बोलन के दर्रे और ब्रह्मपुत्र की घाटी तीनों मार्ग प्रधान थे। इन्हीं की सहायता से उत्तर और पश्चिम के प्रदेशों में पहुँचा जाता था। व्यापार भी इन्हीं मार्गों से होता था और पड़ोसी देशों जैसे गान्धार, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान, तिब्बत, चीन, जापान आदि में इन्हीं मार्गों से पहुँचते थे। धर्म प्रचारक और साहित्यकार इन देशों में जाकर वहीं बस जाते थे परन्तु मातृभूमि के स्नेह के कारण आना जाना और सम्बन्ध बनाये रखते थे। वे लोग वहीं अपना उद्यम अध्ययन, अध्यापन अथवा व्यवसाय करने लगते थे। पूर्व की ओर ब्रह्मपुत्र के मार्ग से लोग चीन और दूसरे पड़ोसी देशों में पहुँचते थे। यहाँ नदी जलमार्ग का उपयोग भी बहुत हुआ था। समुद्र पार निकटस्थ अथवा दूरस्थ देशों के साथ जलमार्ग द्वारा ही सम्बन्ध हो सकता था। इसका प्रयोग भारतवासियों ने बड़ी तन्मयता से किया था। उस समय अनेक प्रसिद्ध बन्दरगाह बन गए थे जैसे गारानपुर (पूर्वी तट), भृगुकच्छ (पश्चिमी तट) ताम्रलिप्ती (बंगाल) आदि जहाँ से जलयान नियमित रूप से आते जाते रहते थे। यहीं से भारतीय लोग पूर्वी द्वीप समूह कम्बोडिया जापान आदि देशों में पहुँचते थे। लाल सागर और अरबसागर या बंगाल की खाड़ी को पार करके मिस्र, मेसोपोटामिया, यूनान आदि यूरोपीय देश और यहाँ तक कि दक्षिण अमेरिका में भी भारतवासी लोग पहुँच गए थे। यद्यपि निश्चित प्रमाण तो नहीं है, किन्तु यह कहा जा सकता है कि स्थल मार्गों की अपेक्षा जलमार्ग अधिक उपयोग में आए और सुविधाओं की दृष्टि से भी सुखदायक सिद्ध होते थे। इसीलिए दूर दूर तक भारतीय संस्कृति विस्तृत हो सकी और विदेशों से सम्पर्क स्थापित हो सके थे।

भारतवर्ष की महानता—जब तक किसी देश में वास्तविक महानता न हो वह दूसरे देशों की सीमाओं में प्रवेश करने योग्य नहीं हो सकता। पिछले युग में इंगलैण्ड इस दृष्टि से महान था इसीलिए वह इतना बड़ा साम्राज्य बना सका था जिसमें सूर्यास्त नहीं होता था। इस दृष्टि से तत्कालीन भारत की महानता भी निर्विवाद रूप से मानी जाती है। सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक दृष्टि से भारत विश्व का अग्रणी रहा था। आध्यात्मिक क्षेत्र में भारतवासी पहुँचे हुए थे साथ ही सांसारिक दृष्टि से कर्मठ और निष्ठावान भी थे और अपने इन अनुभवों को दूसरों के पहुँचाने की उत्कण्ठा भी उनमें जागृत हो चुकी थी। अर्थात् अपने अनुभवों से सम्पूर्ण मानव समुदाय को लाभान्वित करने की भावना से वे प्रेरित थे। इसलिए इस

प्रयास में भारत के नर-नारी, राजा वर्ग, व्यापारी वर्ग, साधु सन्त, विद्वान-गुणी कलाकार, शिल्पकार, चिकित्सक, चित्रकार आदि सभी लोग सामर्थ्य के अनुसार लग गये और विदेशों में पहुँचकर अपने स्वाभावानुसार उद्यम करने लगे। अपने निकट के स्थान, पर्वत सरिताएँ, नगर आदि को भारतीय नाम देकर वहाँ भी भारतीय संस्कृति की स्थापना और प्रतिष्ठा कर दी। यह उनकी दूरदर्शिता और मातृ प्रेम की गहराई का सीधा सच्चा प्रमाण है। ऐसे कौन-कौन से देश और प्रदेश हैं जिनके साथ हमारे सांस्कृतिक सम्बन्धों के प्रमाण उपलब्ध हैं और जहाँ भारतीय संस्कृति की छाप अंकित हो चुकी थी, अब क्रमशः हम उनका ही अध्ययन करेंगे।

लंका से सम्बन्ध—प्राचीन समय से लंका के साथ भारत का सम्बन्ध गहरा रहा है। यदि परम्परा के अनुसार समझा जाय तो यह घनिष्ठता अति प्राचीन है। सम्राट अशोक के समय बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए भारतवासी लंका भी गये थे, यह तो ऐतिहासिक सत्य है। यह भी सच है कि बौद्ध धर्म का प्रचार लंका में बहुत हुआ था और इस समय भी वहाँ का प्रमुख धर्म है। बौद्ध धर्म के प्रभाव से ही लंका में पाली भाषा और ब्राह्मी लिपि का प्रसार हुआ। यह तो हम सब जानते ही हैं कि लंका को हमारे यहाँ सिंहल द्वीप कहते हैं और पौराणिक दादी नानी की कहानियों में आजकल भी कोई न कोई राजकुमार सिंहल द्वीप की राजकुमारी के स्वरूप की प्रशंसा सुनकर मुग्ध होता या उससे विवाह करता हुआ सुना जाता है। यह भी प्रचलित है बंगाल के एक राजकुमार विजय ने जो बहुत शक्तिशाली था लंका पर विजय प्राप्त की थी और बाद में अपना राज्य भी स्थापित किया था इस घटना का चित्रण भारतवर्ष में कई स्थानों पर मिलता है जैसे अजन्ता की गुफा में जयपुर के अजायबघर में आदि। इस प्रकार राजनैतिक प्रभाव भी लंका पर रहा था और धीरे धीरे साहित्य कला, धर्म विज्ञान सभी क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति की छाप लंका पर जम गई थी। जो अभी तक स्पष्ट दिखाई देती है। वहाँ के मन्दिरों की बनावट, शिलालेख मूर्ति कला, ग्रंथ आदि इस निकट सम्बन्ध के उज्ज्वल प्रतीक हैं।

ब्रह्मा से सम्बन्ध—दूसरा निकटस्थ पड़ोसी देश ब्रह्मा है। इसे पहले गन्धार नाम से पुकारते थे और लगभग तेरहवीं शताब्दी तक यह नाम प्रचलित रहा। इस देश में अधिकांश बंगाल और बिहार के निवासी भारतीय गये थे। इस देश का दूसरा नाम 'स्वर्ण भूमि' भी है। यहाँ भी व्यापार वृद्धि और धर्म प्रचार दोनों उद्देश्यों से भारतवासी गये थे। बौद्ध भिक्षुओं ने ब्रह्मा में अपना धर्म प्रचार अत्यधिक किया और लगभग सम्पूर्ण ब्रह्मा पर बौद्ध धर्म का प्रभाव जमा दिया। इससे पूर्व भी भारतीय सभ्यता का प्रभाव ब्रह्मा पर रहा है क्योंकि तत्कालीन विष्णु की प्रतिमायें भाषा व ग्रंथ वैदिक धर्म का प्रभाव और लिपि आदि पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। फिर अंग्रेजों के समय में तो ब्रह्मा और भारतवर्ष एक ही छत्र के आधीन रहकर और भी निकट आ गया और अभी तक अपने विभिन्न क्षेत्रों में ब्रह्मा और भारत मिल जुल कर सच्चे पड़ोसी राष्ट्रों की तरह रह रहे हैं। वास्तव में हमारी आज की घनिष्ठता का आधार हजारों वर्ष प्राचीन हमारी संस्कृति की

निकटता और गहरा सम्पर्क ही है।

चीन से सम्बन्ध—चीन और भारत के सम्बन्ध भी प्राचीन हैं। ऐतिहासिक प्रमाण बौद्ध धर्म के प्रसार के समय से तो स्पष्ट ही प्राप्य हैं किन्तु इससे पूर्व भी गहरा सम्बन्ध रहा है इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। कश्यप मातंग और धर्म रत्न दोनों बौद्ध भिक्षु चीन में धर्म प्रचार के उद्देश्य से गये और वहीं बस गये। इसी क्षेत्र में व्यापक कार्य करने की दृष्टि से उन्होंने अपने धर्म ग्रन्थों का अनुवाद चीन की भाषा में किया और चीन निवासियों के लिए बौद्ध धर्म सुगम बना दिया। इस प्रकार लगभग ३८० धर्म की पुस्तकों का उल्था किया गया था। चीन निवासी बौद्ध धर्म के द्वारा पूरी तरह प्रभावित हो गये थे। यही कारण है कि उनकी गहरी श्रद्धा होने के कारण आवागमन की अनेक कठिनाइयाँ होते हुए भी फाह्यान ह्वेनसांग इत्सिंग आदि विद्वान महात्मा भारतवर्ष में आए और स्वयं प्रत्येक चीज का अध्ययन कर संतोष किया। यही नहीं इसी धार्मिक घनिष्टता के फलस्वरूप व्यापारिक और अन्त में राजनैतिक सम्बन्ध भी चीन के साथ बन गए। जल और स्थल दोनों मार्गों का पूर्ण उपयोग किया गया। राजनैतिक क्षेत्र में राजदूतों का आदान प्रदान होने लगा। परस्पर यात्रियों को आने जाने की सुविधाएं दी जाने लगीं। उन लोगों की लिखी हुई स्मृतियाँ आज अद्वितीय प्रमाण हैं जिनके आधार पर भारत और चीन अपने प्राचीन सम्बन्धों की सीमा समझ सकते हैं। राजनैतिक क्षेत्र में प्रतिनिधि संस्थाएँ, निर्वाचन पद्धतियाँ मतपत्र आदि चीन और भारत में एक ही प्रकार से विकसित हुए और उपयोग में आए हैं। अफीम की उपज भारतवर्ष में अत्यधिक होती थी और चीन में अत्यधिक उसका प्रयोग होता था। जब फाह्यान वापस गया तो लगभग सौ भारतवासी उसके साथ जहाज में चीन गए थे। यह तो गहरे सम्बन्धों का ही प्रभाव है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि भारतीयता चीन में जाकर प्रत्येक क्षेत्र धार्मिक राजनैतिक सामाजिक दार्शनिक आदि में रूपान्तरित हुई किन्तु उस पर भारतीयता का प्रभाव स्पष्ट रूप में रहा यह भी सत्य है। इस प्रकार चीन और भारत में गहरे सम्बन्ध रहे हैं।

पूर्वी द्वीप-समूह (हिन्देशिया Indonesia) से सम्बन्ध—प्राचीन पूर्वी द्वीप समूह का अब आधुनिक नाम हिन्देशिया है। इसमें मुख्य रूप से जावा सुमात्रा बाली बोर्नियो आदि के साथ प्राचीनकाल में विशेष सम्बन्ध रहा है। जिसके फलस्वरूप वहाँ के नर-नारी और नगरों के नाम मूर्तियाँ, भाषा ग्रन्थ तथा परम्पराओं आदि पर भारतीय प्रभाव प्रकट होता है। इसी का संक्षिप्त अध्ययन हम यहाँ करेंगे।

चम्पा (अनाम)—यह नाम उस प्रदेश का था जिसे अब अनाम कहते हैं। यहाँ पर भारतीय लोग जाकर बस गए और बाद में अपना राज्य भी स्थापित कर लिया। लगभग प्रथम से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक यह राज्य चलता रहा। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यहाँ के नायक बिहार के राजवंश से सम्बन्धित थे और उन्होंने ही यह राज्य स्थापित किया था। अमरावती चम्पा की राजधानी थी।

तत्कालीन राजाओं के नाम पूर्णरूप से भारतीय थे जैसे जयपरमेश्वर देव वर्मा, इन्द्रवमन, हरिवमन आदि जयपरमेश्वर ने तो ब्रह्मा की प्रतिमा बनवाई थी और उसके राजकुमार और सेनापति ने प्रतिमा की पूजा प्रतिष्ठा कर भूमि दान किया था। अभी वहाँ अनन्तशायी विष्णु की एक प्रतिमा भी मिली है। धीरे धीरे यह राज्य निर्बल हो गया और मुसलमानों के आक्रमण होने लगे और अन्त में यहाँ इस्लाम का प्रभाव अधिक हो गया। फिर भी भारतीय सभ्यता का प्रभाव समूल नष्ट नहीं किया जा सका। तेरहवीं शताब्दी में चम्पा की एक महारानी थी, उसका नाम गौडेन्द्र-लक्ष्मी था। यह महिला बंगाल के गौड वंश की राजकुमारी थी ऐसा लगता है क्योंकि उपनिवेश में जाकर राज्य स्थापित कर लेने पर भी अपना सम्बन्ध बनाए रखने और वंश की शुद्धता रखने की दृष्टि से ये प्राचीन भारतवासी अपने विवाह सम्बन्ध आदि भारतवर्ष में ही आकर करते थे, यह रिवाज सदैव से ही रहा है। इस समय भी अनेक भारतवासी विशेषकर पंजाबी और मारवाड़ी लोग हिन्देशिया में हैं किन्तु वे सब शादी विवाह भारतवर्ष में ही आकर करते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ पर प्राप्त शिलालेख संस्कृत भाषा में लिखे हुए मिले हैं। इसका अर्थ है कि इन उपनिवेशों में संस्कृत भाषा का बहुत प्रचार था, राज काज में, अध्ययन-अध्यापन में यही भाषा प्रयोग में लाई जाती थी। समस्त ग्रन्थ, काव्य आदि इसी भाषा में लिखे जाते थे। इस प्रकार भारतीय संस्कृति का प्रभाव यहाँ पर बहुत था यह सिद्ध होता है।

कम्बोज (कम्बोडिया)—इस प्रदेश को उस समय कम्बुज या कम्बोज कहते थे। अब इसका नाम कम्बोडिया है। यह किंवदन्ती है कि दक्षिण के कौंडिन्य नामक ब्राह्मण ने यहाँ हिन्दू राज्य की स्थापना की थी। उस ब्राह्मण ने सोमा नामक नाग कन्या से विवाह किया था इसलिए इस वंश का नाम 'सोमवंश' कहते हैं। चीन के विद्वान इस राज्य का नाम फूनान कहते थे। कुछ विद्वानों की राय में यहाँ 'सोमवंश का राज्य नहीं था, 'सूमवंश' का राज्य था और प्रथम शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक चलता रहा है। यहाँ पर भारत के शैवधर्म का प्रभाव अधिक हुआ। शिवजी की प्रतिमा और लिंग दोनों ही रूपों में उपासना होती थी और पार्वती जी की पूजा भी उमा, भवानी गौरी दुर्गा आदि सभी रूपों में होती थी। भगवान विष्णु की मूर्तियाँ भी यहाँ प्राप्त हुई हैं इसलिए यह भी सच है कि वैष्णव धर्म भी यहाँ पहुँच चुका था और बौद्धधर्म तो आया ही था। हाँ यह अवश्य लगता है कि इस प्रदेश में हिन्दू धर्म की प्रमुखता थी। धर्म के साथ साथ ही कला, भाषा और साहित्य भी यहाँ आया। यज्ञ आदि प्रचारित रहे। संस्कृत भाषा का अध्ययन लोकप्रिय रहा। मन्दिरों का निर्माण हुआ और वास्तुकला की उन्नति हुई। यहाँ पर कुछ प्रतिमाएँ यम, वायु अग्नि सूर्य आदि की प्राप्त हुई हैं और कुछ मन्दिर अभी भी हैं जैसे अंगरवरथार का मन्दिर आदि जो पूर्णरूपेण भारतीयता के प्रतीक हैं। चतुर्भुज ब्रह्मा का स्तूप भारतीय कला का सुन्दर उदाहरण है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कम्बोज पर भारतीय संस्कृति का बहुत प्रभाव था और इन दोनों में परस्पर गहरा सम्बन्ध रहा था।

मलाया—इस भारत में मलय प्रायद्वीप कहा जाता था। यहाँ भी भारतवासी गए थे और अपना राज्य स्थापित किया था। आठवीं शताब्दी में शैलेन्द्र वंश ने यहाँ हिन्दू राज्य की स्थापना की थी और बाद में यही साम्राज्य बन गया था। इस साम्राज्य में आस-पास के सभी मुख्य प्रदेश जावा, सुमात्रा, बाली आदि सम्मिलित हो गए थे। भारतीय पद्धति के अनुसार यहाँ के शासक 'महाराज' आदि उपाधियाँ भी धारण करते थे। यहाँ बौद्धधर्म की महायान शाखा का अधिक प्रचार हुआ क्योंकि राजवंश का विश्वास इसी सम्प्रदाय में था। इस राजवंश ने मलय प्रायद्वीप में अनेक मन्दिर, मूर्तियाँ और स्तूप बनवाए और भारतीय संस्कृति के अमिट चिह्न स्थापित किए किन्तु दुर्भाग्यवश लगभग तेरहवीं शताब्दी में यह वंश समाप्त हो गया और बाद में विभिन्न जातियों का अधिकार हो गया। किन्तु भारतीय सभ्यता का प्रभाव वहाँ बना रहा।

जावा—भारतवर्ष में इसे यवद्वीप कहते थे। जावा के सम्बन्ध में कई प्रकार की कहावतें और परम्पराएँ प्रचलित हैं। जावा में भी ऐसा कहा जाता है कि कलिंग तट से भारतवासी यवद्वीप गए और वहाँ अमरद्वीप का आबाद कर लिया। यह भी प्रचलित है कि ईसा के पचहत्तर वर्ष बाद गुजरात के एक राजकुमार यवद्वीप पहुँचे और उन्होंने यवद्वीप को अपना उपनिवेश बना लिया। एक मुसलमान लेखक का विश्वास है कि उस समय यहाँ का राजा महाराज कहलाता था। अर्थात् उस समय यहाँ पूर्णरूपेण भारतीय प्रभाव स्थापित हो चुका था। बौद्धधर्म का प्रचार था और भारतीय लिपि भी प्रयोग में आती थी। राज्य कार्य भी संस्कृत और पाली में होता था। धार्मिक कार्यों में ब्राह्मणों को बुलाया जाता था। जावा की राज्य शक्ति धीरे धीरे निरन्तर बढ़ी और अन्त में मलाया पर भी आधिपत्य जमा लिया। तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सम्राट विजय ने एक नए राजवंश की स्थापना की थी। पहले हिन्दू धर्म और बाद में बौद्धधर्म का प्रचार हुआ। इस समय भी अनेक मन्दिरों के अवशेष ग्रन्थों की प्रतियाँ और मूर्तियाँ आदि उपलब्ध हैं। रामायण और महाभारत यहाँ के अत्यधिक प्रिय महाकाव्य थे जो जन जन के मानस में अपना स्थान बनाए हुए थे। इस प्रकार जावा में भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्रसार रहा है।

मलक्का, बाली, बोर्नियो और फिलिप्पाइन्स—इण्डोनेशिया के शेष अन्य महत्त्वपूर्ण टापुओं में भी भारतीय सभ्यता का प्रभाव था। एक हिन्दू सामन्त ने १५वीं शताब्दी में मलक्का में अपना राज्य स्थापित किया और धीरे धीरे बहुत शक्तिशाली राज्य के रूप में विकसित कर लिया था। यह व्यापार का भी केन्द्र बन गया था। बाली में तो बहुत पहले लगभग छठी या सातवीं शताब्दी में ही हिन्दू राज्य के स्थापित होने की बात प्रचलित है और वहीं बौद्धधर्म का प्रचार भी हुआ था। आज कल भी बाली में भारतीय सभ्यता प्रसार है यह सब का विषय है। इसी प्रकार अन्य कई स्थानों में जैसे बकनपुर (बोर्नियो) आदि जगहों पर हिन्दू धर्म का प्रभाव अब भी बहुत है। वहाँ का धर्म भारतीय धर्म के अनुरूप है। देवमंदिरों का रिवाज है और उनमें प्रतिमाओं की स्थापना होकर उनकी पूजा होती

है। वास्तुकला और चित्रकला में भी भारत की छाप है। इन स्थानों में एक शिला लेख मिला है जिसमें 'त्रिमूर्ति' ब्रह्मा, विष्णु, महेश की स्तुति लिखी हुई है। और भी अनेक प्रकार की मूर्तियाँ आदि यहाँ मिली हैं जिनसे भारतीय सम्पर्क और निकटता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त यहाँ के रहन-सहन, वेशभूषा, रीति रिवाज, साहित्य कला, भाषा और सामाजिक रूढ़ियों में भी भारतीयपन के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

उपनिवेश और भारतीयता—उपरोक्त वर्णन में आए हुए पड़ौसी देश भारतीय उपनिवेश थे जहाँ भारतीय नागरिक अपने और वहाँ के नागरिकों का हित करने की दृष्टि से जाते थे किन्तु मातृ भूमि का स्नेह निरन्तर बनाए रखते थे। लगभग इन सभी उपनिवेशों में संस्कृत भाषा का प्रसार था। संस्कृत ही पठन पाठन साहित्य सृजन तथा जनता के व्यवहार में आने वाली भाषा थी। तत्कालीन शिला-लेख, धर्मग्रन्थ आदि सभी संस्कृत में ही लिखे जाते थे। वहाँ के देवी देवताओं की मान्यता भी भारतीय परम्परा के अनुसार ही थी। पौराणिक एवं बौद्धधर्म दोनों का प्रसार हुआ था। पौराणिक धर्म के अनुरूप ब्रह्मा, विष्णु और महेश की मान्यता थी तथा इन्हीं के साथ अन्य देवता भी पूज्य माने गये थे। जैसे शिव के साथ पार्वती, उनका नन्दी, गणेश, स्वामी कार्तिकेय आदि भी पूज्य थे इसी प्रकार विष्णु की पूजा होती थी, किन्तु इनके अवतारों का प्रचार अधिक था और उनमें भी राम और कृष्ण के रूप अधिक लोकप्रिय थे। चम्पा आदि स्थानों में राम लक्ष्मण आदि चारों भाइयों की पूजा होती थी। बाली द्वीप में रामायण ग्रन्थ भी उपलब्ध हुआ है। इन स्थानों में अन्य पौराणिक गाथाएं भी बहुत प्रचलित रही हैं, भारतीय परम्पराओं की भाँति ही यहाँ भी राजा ईश्वर का अवतार समझा जाता था। कई शासक अपने आप को भगवान विष्णु का अवतार कहते थे। जैसे चम्पा, बाली आदि के राजा यह प्रकट रूप से कहते थे कि हम विष्णु के अवतार हैं। इन देवताओं के वाहन भी भारतीय पद्धति के अनुरूप ही हैं केवल स्थान और काल के कारण कुछ परिवर्तन अवश्य हो गए हैं। कहीं कहीं विष्णु और शिव की तथा कहीं ब्रह्मा विष्णु महेश तीनों की भी सम्मिलित मूर्तियाँ मिली हैं। यह भी प्राचीन भारत की परम्परा थी। 'सर्व-देव नमस्कार' की भावनानुसार सभी देवता समान थे। यह भाव इन स्थानों में था इससे यही सिद्ध होता है। मन्दिरों का निर्माण भी हुआ है। धार्मिक ग्रन्थों में से रामायण, महाभारत और गीता की कुछ प्रतियाँ इन स्थानों में उपलब्ध हुई हैं। वे यह सिद्ध करती हैं कि इन स्थानों पर भारतीय सभ्यता का बहुत गहरा प्रभाव रहा है। मूर्तिकला और चित्रकला के क्षेत्र में भी ये प्रदेश प्रभावित हुए थे। परन्तु उनके स्पष्ट प्रमाण समय की गति के कारण नष्ट हो गये। इस प्रकार इन उपनिवेशों में भारतीय सभ्यता की जड़ें गहरी जमी हुई थीं जिनके कुछ अवशिष्ट प्रमाण वर्तमान काल में भी सर्वत्र मिलते हैं। सुवर्णो (सुन्दर वर्ण वाला), मण्डारनायक आदि नाम पूर्ण रूपेण भारतीय हैं यह कभी भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मध्य एशिया और पश्चिम के देश—भारतीय सभ्यता की प्रगति और विस्तार सर्वतोमुखी था। इसलिए अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान, काशगर, खोतन्द (खोतान),

चीनी तुर्किस्तान आदि अनेक देशों में भी भारतीय सभ्यता का प्रसार हो चुका था। धर्म, लिपि, संस्कृति, भाषा, कला आदि विभिन्न विशेषतायें वहाँ भी इन देशों में पहुँची थीं। लगभग ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक यह प्रभाव रहा। तत्पश्चात् दूसरी जातियों के आक्रमणों के कारण यह प्रभाव जाता रहा। मौर्य साम्राज्य के समय अफगानिस्तान आदि तो भारतवर्ष में ही समझे जाते थे और काबुल और कन्धार के नाम उस समय इतने प्रसिद्ध थे जितने आजकल कलकत्ता और काश्मीर। अफगानिस्तान के पास पश्चिम का भाग 'बैक्ट्रिया' कहलाता था। उसमें भी भारतीय सभ्यता की गहरी छाप थी। विशेषतः बौद्ध धर्म का प्रभाव वहाँ अधिक था। बिलूचिस्तान में भारतीय क्षत्रिय ही राज्य करते थे। मुसलमानों के निरन्तर आक्रमणों से बचने के लिए हिन्दू लोग भारत की ओर आ गये थे। चीनी तुर्किस्तान तो भारतीय संस्कृति का केन्द्र ही था। चीन की ओर जाने वाले मार्ग यहीं से जाते थे। इसीलिए भारतीयों ने सर्वत्र अपने मुकाम बना लिये थे। ब्राह्मण और भिक्षु लोग धर्म प्रचार के लिए जाते थे और वहीं बस जाते थे। धर्म के प्रचार के साथ साथ ही स्वाभाविक रूप से साहित्य कला और सभ्यता का प्रसार भी होता रहता था। काशगर और खोतान आदि के नगर पूर्णरूपेण भारतीय रंग में ही रंग गए थे। राजा को महाराज और पण्डित को पुरोहित कहने की परम्परायें भी वहाँ थीं। वहाँ से प्राप्त अवशेषों से पता लगता है कि वहाँ संस्कृत और पाली भाषायें और ब्राह्मी लिपि का प्रचार था। वहाँ की भाषा लिपि भी विचित्र रूप की है जिसे खरोष्ठी पद्धति कहा गया है। पहले भारतवर्ष में भी खरोष्ठी पद्धति का प्रचार था और आजकल जैसे सर्वप्रथम उर्दू भाषा जाती है वैसे ही पहले खरोष्ठी लिखी जाती थी। खोतान तो बौद्ध धर्म का मुख्य केन्द्र रहा है। वहाँ संस्कृत भाषा का प्रचार था और खरोष्ठी लिपि व्यवहार में लाई जाती थी। यहाँ एक शिलालेख में शासक का नाम राजाधिराज देव विजितसिंह लिखा हुआ मिला है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि किंवदन्ति के अनुसार महाराज अशोक के एक पुत्र विजितसम्भव ने यहाँ खोतान स्थान में अपने राज्य की स्थापना की थी। उसके बाद अनेक राजाओं के नाम के साथ विजित शब्द का प्रयोग होता रहा जैसे विजितसिंह, विजितकीर्ति आदि। यह राजवंश भी बुद्ध धर्म का ही अनुयायी रहा। इन्होंने भारतीय सभ्यता के प्रसार हेतु संस्कृत भाषा और साहित्य का प्रचार करने में तत्परता से विद्यालय स्थापित करवाए। इस प्रकार के स्थानों में बौद्ध मूर्तियाँ स्तूप, चित्र और हस्तलिखित पुस्तकालय प्राप्त हुए हैं। विख्यात भारतीय कवि अश्वघोष के कई नाटकों की प्रतियाँ भी इन स्थानों में उपलब्ध हुई हैं। वास्तव में मध्य एशिया ऐसा स्थान रहा है जहाँ विभिन्न देशों की संस्कृतियाँ मिलती जुलती रहती हैं। इसलिए भारतीय सभ्यता का प्रभाव भी इस क्षेत्र की सभ्यताओं पर पड़ा और दीर्घ काल तक रहा। निस्सन्देह मध्य में भारत और चीन के बीच का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। चीन जाने के लिए और चीन से भारत आने के लिए निश्चित ही मध्य में आता है। इसलिये बौद्ध धर्म का प्रचार करने जो लोग चीन जाते थे पहले भाग में

उन्हें तिब्बत भाता था इसलिए बौद्ध धर्म का प्रभाव तिब्बत में बहुत अधिक है। व्यापारिक सम्बन्ध भी इसी कारण तिब्बत से अधिक घनिष्ठ रहे। वर्तमान समय में भी भारतीय प्रभाव बहुत था किन्तु अब साम्यवाद के विस्तार के कारण सब नष्ट भ्रष्ट होता जा रहा है। इधर के प्रदेशों में इची करा आदि अन्य भी कई विख्यात नगर थे जहाँ भारतीय संस्कृति की आशातीत उन्नति हुई थी। वहाँ अनेक भवन विहार आदि थे तथा संस्कृत भाषा एवं विनय पद्धति जिसे कालान्तर प्रणाली कहते हैं, से पढ़ाई जाती थी यहाँ बौद्ध धर्म के अनेक अति प्राचीन ऐसे ग्रंथ भी मिले हैं जो अब तक प्रकाश में नहीं थे। ज्योतिष, साहित्य, चिकित्सा गणित आदि के ग्रन्थ भी उपलब्ध हुए हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि इन प्रदेशों में भारतीय सभ्यता घर कर गई थी और कई शताब्दियों तक उसका एकछत्र प्रभाव बना रहा था।

पश्चिमी देशों में भारतीय संस्कृति मुख्य रूप से व्यापारियों के द्वारा पहुँची। धर्म प्रचारकों के द्वारा नहीं। इसमें तो सन्देह नहीं है कि जब लोग भारत के सम्पर्क में आते थे तो एक बार तो वे मुग्ध हो ही जाते थे और भारतीय ज्ञान, साहित्य, कला आदि के सम्मुख नतमस्तक होकर नमस्कार करते थे। जलमार्ग ही इन क्षेत्रों तक पहुँचने का सरल मार्ग था। स्थल मार्ग कठिन भी था और दीर्घ भी। यूनान और रोम तक भारतीय सामान जाता रहता था और अधिकांश जलमार्ग का ही उपयोग होता था। सिकन्दर के समय में यह सम्पर्क और भी बढ़ा और यूनान को प्रभावित किया। उन्होंने कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त स्वीकार किए। इसके अतिरिक्त तक्षशिला में विद्याध्ययन के लिये अनेक विद्यार्थी भी आने लगे। इसी प्रकार रोम के साथ भी व्यापार हुआ। वहाँ भारतीय वस्त्र मलमल बहुत लोकप्रिय हुआ। वहाँ की स्त्रियाँ इसे बहुत पसन्द करती थीं। इसके अतिरिक्त हिन्दएशिया से लाये हुए गरम मसाले और अन्य विलास की सामग्री भी यहाँ बहुत खरीदी जाती थी। यह व्यापार बहुत लाभदायक रहा। महात्मा ईसा ने स्वयं भारत की सीमा पर रहकर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था अपने ईसाई धर्म के प्रचार से पूर्व वह बौद्ध धर्म से प्रभावित भी बहुत हुआ था।

इस प्रकार पश्चिमी संसार भी भारतीय सभ्यता से प्रभावित रहा है। इन परिस्थितियों से यह भी अनुमान होता है कि वास्तव में आर्य लोग यहीं के निवासी थे और इसीलिये आर्य संस्कृति का इतना व्यापक प्रसार सम्भव हुआ है। हजारों वर्षों तक चलते रहने वाला यह सम्पर्क यही सिद्ध करता है कि ये सभी लोग आर्यों की सन्तान हैं और एक दूसरे से बहुत दूर होते हुये भी अनेकता में एकता के सिद्धान्त का ज्वलन्त उदाहरण है। एक ही जाति होने के कारण और अत्युत्तम संस्कृत सभ्यता होने के कारण अनेक उपनिवेश और राज्य बसाये और शेष क्षेत्रों में अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रसार किया, यह भारतवर्ष को सदैव गौरवान्वित करने वाली विशेषता है और इससे भी अधिक महत्व इस बात का है कि इस समस्त प्रसार और प्रभाव में शक्ति प्रयोग दमन नीति शोषण वृत्ति उच्चता के भाव आदि का कहीं लवलेश भी नहीं था। यदि कोई भाव थे तो वे भ्रातृभाव, मानव स्नेह

लाभान्वित करने की वृत्ति आदि ये जो सदैव ही अच्छी संस्कृति के उत्कृष्ट गुण माने जाते हैं। इसलिये भारतीय संस्कृति की विदेशों में स्थापना करना भारतवासियों के पुरुषार्थ और साहस का फल है।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१ मध्य एशिया और पश्चिम के देशों पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव किस प्रकार हुआ—समझाकर लिखिए।

२ उपनिवेशों के साथ भारतीय सभ्यता के सम्पर्क और उसके प्रभाव पर एक निबन्ध लिखिए।

३ भारतीय भाषा धर्म कला और सभ्यता के प्रमाण कहाँ २ किस रूप में प्राप्त हुए हैं टिप्पणियाँ लिखिए।

— o —

तेरहवा अध्याय

तुर्कों की भारतीय विजय और इस्लाम का प्रभाव

प्रस्तावना—हिंदू राजाओ से बहुत समय शासित रहने के बाद भारतवर्ष पर तुर्कों के आक्रमण आरम्भ हुए और धीरे धीरे वे लोग यहीं पर बसने लगे और अन्त मे वे स्वय भी भारतीय मुसलमान बन गए। जब ये आक्रमण आरम्भ हुए उस समय भारतवर्ष की राजनतिक एकता नष्ट प्राय सी थी। महाराजा हर्ष के देहावसान के पश्चात् अनेक समथ सामन्त और प्रभावशाली व्यक्तियो ने अपने छोटे छोटे राज्यो की स्थापना कर ली थी और ये लोग परस्पर सघष म व्यस्त रहने लगे थे। इसका फल यह हुआ कि किसी भी राज्य का स्वरूप, सीमा व्यवस्था निश्चित नही थी और पडोसी देशो की दृष्टि इस प्राचीन सोने की चिडिया पर लगी हुई थी। ऐसा अवसर पाकर मुसलमानो ने सवप्रथम आक्रमण किया और तब से निरन्तर कई आक्रमण हुए। इनका वणन अब किया जायगा।

अरब लोगों के आक्रमण—जिस समय भारतवष मे न्यूनाधिक अराजकता सी फैली हुई थी लगभग आठवी शताब्दी का प्रारम्भ ही था। उस समय (७१२ ई०) खलीफा के सेनापति मुहम्मद बिन ने भारत पर आक्रमण किया और सिंध पर अपना आधिपत्य जमा लिया परन्तु इससे आगे बढने म उन्हें राजपूत नरेशो की सजगता ने सफल नही होने दिया। वास्तव म अरब लोग बहादुर ही थे चतुर शासक नहीं। इसलिए वे सिंध प्रात म भी शासन व्यवस्था स्थिर नही कर सके। ऐसी दशा कुछ समय तक चलती रही और अन्त म दसवीं शताब्दी मे सिंध का विभाजन हो गया और दो भिन्न भिन्न मुसलमान सम्प्रदायो के लोगो ने शासन चलाना आरम्भ किया। इस समय न तो और कोई बाहर के आक्रमण हुए और न भारतीय अन्य शासको ने ही इस ओर ध्यान दिया। इसलिए तीन सौ वष तक यह राज्य चलता रहा। इस प्रकार सिंध की विजय भारत म सवप्रथम विदेशी विजय थी। इसका राजनीतिक प्रभाव भयकर हुआ। अन्य आक्रमणकारियो के लिए यह एक उदाहरण बन गया। राजस्थानी कहावत चरितार्थ हुई कि 'बुढिया के मर जाने का खेद उतना नही था जितना इस बात का कि मौत द्वार देख गई सचमुच विदेशी आक्रमणो का इसके बाद से ताता ही लग गया था। अन्य क्षेत्रो म भी अरबो के साथ सम्पक का गहरा प्रभाव हुआ। परन्तु भारतवष से अरब लोगो ने अधिक बातें सीखी। भारतीय तत्त्व ज्ञान, गणित ज्योतिष, साहित्य, प्राकृतिक विज्ञान और अन्य विषयो के अध्ययन से पश्चिमी एशिया म सास्कृतिक पुनरुत्थान हुआ। यहाँ से इन्होने शासन प्रबन्ध सीखा। व्यापारिक लाभ के लिए उन्हें भारतीय क्षेत्र की प्राप्ति हो गई। हिन्द महासागर पर उनका प्रभाव जम गया। भारत से आगे वे अब चीन तक जाने लगे और उनकी समृद्धि बहुत बढ गई। ये लोग भी प्रारम्भ म अंग्रेजो की

भाँति नातिपूर्ण ढंग से ही भारत आए थे और व्यापार भी आरम्भ किया था। परन्तु बाद में सिंधी शासकों की सहायता से जब गाँव और मस्जिदें बनाए, काजी नियुक्त किये। ये लोग अरब और अन्य मुस्लिम देशों से ही अपनी निकटता अनुभव करते थे। इसलिए थोड़े समय बाद जब अन्य मुस्लिम आक्रमण हुये तो ये लोग प्रसन्न होने लगे।

तुर्कों के आक्रमण—उपरोक्त अरब राज्य अधिक समय तक नहीं टिक सका। परस्पर राग द्वेष और अन्य दोषों के कारण जीर्णावस्था को प्राप्त होकर वह छिन्न भिन्न होने लगा। इस समय पंजाब में ब्राह्मण शासकों का राज्य था। तुर्क लोगों ने सर्वप्रथम पंजाब पर ही आक्रमण किया और ब्राह्मण शासकों को वहाँ से भगा दिया और अपना राज्य स्थापित किया। यह इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है। अलप्तगीन नामक तुर्क ने यह राज्य स्थापित किया और गजनी को अपनी राजधानी बनाया और फिर भी अपने राज्य विस्तार में व्यस्त रहा। सन् ९७७ ई० में उसके पुत्र सुबुक्तगीन ने जयपाल के राज्य पर चढ़ाई की परन्तु युद्ध में हार गया। इस समय महमूद गजनी अपने पिता के साथ ही था। इस समय उसकी अवस्था पन्द्रह वर्ष की थी परन्तु उसका मस्तिष्क बहुत उर्वरा था। वह भारतवर्ष के राजनीति से पूर्णतया परिचित था और भौगोलिक स्थिति का ज्ञान भी उसे बहुत था। उसने अपने पिता से प्रार्थना की कि युद्ध के बजाय युक्ति से काम लिया जाय और युद्ध स्थल के समीप जो एकमात्र जलस्थान है उसको मल मिश्रित कर दिया जाय ताकि ब्राह्मण सिपाही वर्ग जल न पियें और जब प्यास से व्याकुल हो जायें तब आक्रमण किया जाय। ऐसा ही किया गया और फलस्वरूप तुर्क लोग विजयी हुए परन्तु फिर भी जयपाल का राज्य चलता रहा। सुबुक्तगीन ने भारत पर अनेक आक्रमण किये थे। इसकी मृत्यु के पश्चात महमूद गजनी ने भी भारत पर सत्रह बार आक्रमण किये किन्तु स्थायी राज्य की नींव डालने में वह असमर्थ रहा। सर्वप्रथम महमूद गजनी ने सन् १००१ में फिर जयपाल पर आक्रमण किया और उसे हरा दिया। जयपाल इस पराजय से इतना लज्जित हुआ कि उसने प्राणान्त कर लिया। उसके पश्चात उसका पुत्र आनन्दपाल राजगद्दी पर बैठा और महमूद ने भी उसे मान्यता दे दी किन्तु कुछ समय पश्चात पुनः युद्ध हुआ और अन्त में पंजाब पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया।

इसी प्रकार गोर पर भी गजनी ने आक्रमण किया और वहाँ के हिन्दू राजा को हरा दिया। जनता को बल प्रयोग द्वारा धर्म परिवर्तन किया और अपने राज्य की सीमायें विस्तृत बनाने लगा। महमूद गजनी ने भारत को लूट लूट कर बहुत क्षति पहुँचाई। इसके नगरकोट, थानेश्वर, मथुरा, कन्नौज, ग्वालियर, कालिंजर आदि के प्रसिद्ध मन्दिर लूटे और सोमनाथ के मन्दिर पर किया गया आक्रमण अत्यधिक महत्वपूर्ण और लोक विदित है। धर्म परिवर्तन करना, नगर जलाना, मन्दिर ढहाना, मूर्तियाँ खण्डित करना और धन राशि बटोर कर ले जाना इसके मुख्य कार्य थे। इस प्रकार गजनी का समय चलता रहा और स्थायी राज्य स्थापित

नही कर सका। सन् ११९१ ई० शाहबुद्दीन गोरी ने उत्तरी भारत के एक बहुत बडे प्रात भाग को जीत कर अफगान सल्तनत की नींव डाली। इन आक्रमणो द्वारा महमूद के वशज वहा से भाग निकले और इन्होने गजनी को नष्ट कर दिया। इसके बाद उसने पृथ्वीराज चौहान के राज्य पर आक्रमण किया। अनेक बार हार कर अन्त मे सन ११९२ मे वह विजयी हुआ और उसने पश्चात लगभग २५ वर्ष मे सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अनेक आक्रमण किये और वहा अपना राज्य स्थापित किया परन्तु गोरी ने कोई खास नगर अपनी राजधानी बनाकर शासन चलाने का प्रयास नही किया और भारत के विजित प्राता को अपने सेनापति ऐबक के आधीन कर दिया। इस प्रकार सन १२०० के लगभग समस्त भारत म मुसलमाना का आधिपत्य हो गया।

तुर्क अफगान सल्तनत—गोरी की मत्यु के बाद सन १२०६ म एबक कुतुबुद्दीन दिल्ली के सिंहासन का स्वामी बना और वह स्वतन्त्र शासक क रूप म काय करन लगा। इस समय तक सिंध पजाब, मगध बगाल और उत्तर प्रदेश आदि मुसलमाना के अधिकार म आ चुके थे और सन १२०६ से लेकर १५२४ तक अफगाना का भारत पर अधिकार रहा। इस दीघकाल म अनेक सम्राट हुए और राजवश भी परिवर्तित हुए। ऐबक कुतुबुद्दीन गोरी का गुलाम था इसलिए प्रथम वश इतिहास मे 'गुलाम वश' कहलाता है। इस वश म इल्तुतमिश तथा बलबन आदि महान शासक हुए हैं। इन्होन मगोल आदि जातिया के आक्रमण से भारतवष की रक्षा भी की है, किन्तु इसके अत्याचारो की भी सीमा नहा थी। लगभग दो सौ वर्षों तक इन्होन भारतवष म खूब मनमानी की है। हिन्दू राज्या को नष्ट करना सोना चादी एव जवाहरात लूटना, स्त्री पुरुषा को गुलाम बनाना, विजित स्थाना पर कत्लेआम करना, मदिर और मूर्तिया ध्वस करना, हिन्दुआ पर अनक प्रकार क कर थोपना इनके साधारण कार्य थ। सन १३०० के बाद इन्हाने अपना विस्तार दक्षिण म भी करना आरम्भ किया और चौदहवी शताब्दी के आरम्भ होते होते सम्पूर्ण भारतवष पर मुसलमान छा गये। हिन्दुआ की हर प्रकार मुसीबत आ गई। धम, भाषा, साहित्य और सस्कृति सब सकटग्रस्त हो गये। इस प्रकार भारत पर मुस्लिम शासन स्थापित हुआ। पहले तुर्क और फिर अफगान लोगा ने यह काय किया। इन लोगा न पाच वशा (गुलाम वश १२०६ ९०) (खिलजी वश १२९० १३२०), (तुगलक वश १३२० १४१४) (सयद वश १४१४ १५२६), और (लोदी वश १४१४ १५२६) ने भारत पर लगभग तीन सौ वर्षों तक राज्य किया। अफगान सुलताना मे अलाउद्दीन खिलजी का नाम उल्लेखनीय है। यही प्रथम मुस्लिम शासक था जिसने दक्षिण भारत पर सवप्रथम अपना अधिकार किया था। प्रशासनीय क्षत्र म भी व्यवस्थित नौकरशाही की स्थापना का श्रेय इसी शासक को है। चौदहवी शताब्दी के शासका म मुहम्मद तुगलक (१३९४-१४१४) और फिरोज तुगलक के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके बाद तुगलक वश का प्रभाव कम होने लगा। इस स्थिति से लाभ उठा कर भारत म पुन अनेक राज्य स्थापित होने लगे। राजपूताने के शासक, दक्षिण मे बहमनी राज्य

और विजयनगर राज्य आदि स्थापित हो गये और उत्तर भारत में भी बंगाल, गुजरात, खानदेश, मालवा, काश्मीर आदि स्थानों पर मुसलमानों ने भी स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए। इसके पश्चात् सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में (१५२६ ई०) में लोदी वंश के अंतिम शासक इब्राहीम लोदी को पानीपत के युद्ध में हरा कर बाबर ने भारतवर्ष में मुगल साम्राज्य की नींव डाली। यह वंश 'मुगल वंश' के नाम से विख्यात है।

मुगल वंश—सर्वप्रथम प्रसिद्ध मंगोल नेता चंगेज खाँ और तैमूरलंग ने भारत पर आक्रमण किया था और उनके आक्रमण बहुत भयंकर हुए थे। अफगान और दूसरे तुर्कों की शासन व्यवस्था को इन लोगों ने समाप्त कर दिया था किन्तु इन्होंने यहाँ अपना राज्य जमाने की दिशा में कोई प्रयास नहीं किया। अन्त में बाबर ने जो इन्हीं का वंशज था, भारतवर्ष में मुगल साम्राज्य की नींव डाली। उसने भी चार पाँच बार भारत पर आक्रमण किये और अन्त में लोदी वंश के अंतिम सम्राट इब्राहीम लोदी को पानीपत में और राजपूत वीर मेवाड़ के महाराणा साँगा को कनवाह के युद्ध क्षेत्र में हरा कर मुगल राजवंश स्थापित किया। परन्तु उसका पुत्र हुमायूँ यह विशाल विजित देश में नहीं संभाल सका। शेरशाह के नेतृत्व में संगठित अफगानों ने हुमायूँ को भारत से निष्कासित कर दिया और पुनः अफगान राज्य की स्थापना कर दी। परन्तु यह राज्य भी अल्पकालीन ही रहा। यह शासन व्यवस्थित था और नीति भी उदार थी किन्तु उसके उत्तराधिकारी सुयोग्य नहीं थे। इसलिए हुमायूँ पुनः अपने राज्य को प्राप्त करने में सफल हुआ और लगभग १५ वर्ष तक इधर उधर भटकने के बाद अपने पैतृक राज्य पर आधिपत्य जमा लिया। सन् १५५६ में उसके देहावसान के पश्चात अकबर मुगल सिंहासन पर बैठा। इस समय भारत की स्थिति अत्यन्त ही चिन्तनीय थी और चारों ओर राज्य के शत्रु उठ खड़े हुए थे। अकबर ने अपने पक्के समर्थकों की सहायता से अपना राज्य व्यवस्थित किया और अपनी ही बुद्धि और योग्यता द्वारा दृढ़ दुर्ग बनाया और प्रशासन की दृष्टि से भी इसे निर्दोष बना दिया। अपनी उदार और कुशल नीति द्वारा भारत में नया युग आरम्भ कर दिया। राजपूतों से मित्रता बनाकर केवल मेवाड़ के अतिरिक्त समस्त उत्तरी भारत पर अपना आधिपत्य जमा लिया। हिन्दू मुस्लिम मनोमालिन्य दूर करने के लिए नया सम्प्रदाय आरम्भ किया जिसका नाम 'दीन इलाही' था। राष्ट्रीय एकता और विकास के लिए और अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। इसके समय में टोडरमल के द्वारा किया गया बन्दोबस्त अभी तक इतिहास में प्रसिद्ध है। इस प्रकार कूटनीति, प्रशासन और उदारता की दृष्टि से अकबर का शासनकाल अनोखा रहा है। इसके बाद जहाँगीर ने शासन किया यह अपने न्याय के लिए प्रसिद्ध है। जहाँगीरी न्याय एक कहावत बन गया है। इसके बाद शाहजहाँ का शासन आरम्भ हुआ। इसके समय में कला-कौशल, वास्तुकला आदि की बहुत उन्नति हुई। भारत की अमूल्य निधि 'ताजमहल' जो विश्व के प्रसिद्ध आश्चर्यों में से एक है इसी के समय की कलाकृति है। औरंगजेब स्वयं ही विचित्र था। उस

ने परम्परावादी नीति त्याग कर शुद्ध मुस्लिम सिद्धान्तो का कठोरता और निममता से पालन किया इसलिए समाज द्वारा विशेषकर हिन्दुओ द्वारा वह अप्रिय समझा गया और अन्त म ऐसी नीति के फलस्वरूप ही मुगल साम्राज्य का पतन आरम्भ होगया था। इस प्रकार मुगल साम्राज्य भारत मे रहा और अन्त मे छिन्न भिन्न होगया।

इस्लाम का प्रभाव—साधारणत जब दो संस्कृतियो का मेल होता है तो अधिक विकसित और उन्नत संस्कृति ही अनुन्नत एव पिछडी हुई संस्कृति को प्रभावित करती है। अथवा यह भी सभव है कि विजेता संस्कृति अधीनस्थ संस्कृति पर बलपूर्वक अपना प्रभाव थोप दे। सम्भवत बाहर से आकर लोग उस राष्ट्र की संस्कृति को समझकर उसकी त्रुटिया ढूढकर फिर अपनी संस्कृति की उच्चता सिद्ध करते हुए प्रचार द्वारा उन पर अपनी संस्कृति का प्रभाव डालें। इन अनेक प्रकार के प्रभावो म से काई भी काम म लाया जा सकता है परन्तु भारतवष मे मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव एक विशष ढग से हुआ। यह तो निश्चित है कि मुस्लिम संस्कृति भारतीय संस्कृति के समक्ष सदैव से ही अनुन्नत और अनुदार रही है इसलिए उच्चता का प्रभाव होने का तो प्रश्न नही था किन्तु राजनतिक दृष्टि से शासको की संस्कृति यह अवश्य थी। इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति की दो मुख्य विशषतायें सहिष्णुता और समन्वय की अपूव क्षमता इन दोनों के घनिष्ठ सम्पक की स्थापना म बहुत उपयागी हुए। इसी का फल है कि पहले की हिन्दू संस्कृति और बाद म आई हुई मुस्लिम संस्कृति के समन्वय द्वारा नवीन संस्कृति का रूप मुखरित हुआ जिसे आज हम शुद्ध रूप से भारतीय संस्कृति कहते हैं। अन्य क्षत्रो म किस प्रकार यह प्रभाव या समन्वय हुआ इसका अध्ययन अब हम करेंगे।

संस्थायें—हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियो के समन्वय द्वारा भारतीय संस्कृति का विकास ही हुआ किन्तु एक नये ढग से। अब तक मुसलमानो की तो यह परम्परा थी कि जहाँ जाते थे वहा के सम्पूण निवासियो को व अपने रग म रग लते थे किन्तु भारतवष मे सम्पूण हिन्दू जाति को अपने रग म नही रग सके। यही दशा हिन्दुओ की भी हुई। अभी तक भारतवष म जितनी जातियाँ आई वे भारत मे आकर भारतीय बन गइ और उसने अपने पूवज और पहले के देश आदि की स्मृति को विस्मृत कर दिया। ऐसा आत्मसात मुसलमानो को नही हो सका। भारत म आकर भी मुसलमान बहुत समय तक मुसलमान ही बने रहे। अनेक निरक्षर और सकीण वृत्ति वाले मुसलमान अब भी अपने आपको भारतीय कहने से पहल सोचते हैं अत यह मानना पडगा कि दोना तरह की संस्थायें अपना अस्तित्व बनाये रही बल्कि दोना म यदाकदा विरोध भी रहा। मुसलमान एकेश्वरवादी थे और मूर्तिपूजा के विरुद्ध थे किन्तु हिन्दू लोग अपने देवताओ म विश्वास करते थे और मूर्तिपूजा के समथक थे। इस प्रकार विरोध के कारण दोनो प्रकार की संस्थाएँ एक दूसरी से प्रभावित होकर भी अलग अलग बनी रही। उदाहरणाथ मुसलमान मूर्तिपूजा के तो विरुद्ध थे किन्तु पीर की पूजा करने लगे मायवान मस्जिद म दीपक जलाने लगे।

यह हिन्दू प्रभाव ही था। इसके अतिरिक्त मुसलमान अधिकांश नगरों में रहे इस लिए गाँवों का वातावरण वैसा ही बना रहा। कभी कभी सामूहिक धर्म परिवर्तन होने से और उनके बाद भी वहाँ के धर्म परिवर्तित लोगों की वेष भूषा, रीति रिवाज वैसे ही बने रहते थे। इस प्रकार नगरों के हिन्दुओं पर मुसलमानों का व्यापक प्रभाव हुआ। सामाजिक समानता का प्रभाव भारत की समस्त जातियों ने ध्यान से देखा और अपनाया। यद्यपि जातियों में तो ऊँच-नीच की भावना रही किन्तु एक जाति के भीतर समानता की स्थापना हुई। इस प्रकार संस्थाओं में बहुत प्रभाव प्रदान हुआ।

धर्म—भारतीय संस्कृति के धार्मिक क्षेत्र में मुसलमानों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। एकेश्वरवाद और मूर्तिपूजा का खण्डन शंकराचार्य के दर्शन में प्रकट है। सामाजिक समानता और ऊँच नीच की भावना का त्याग बौद्ध और महावीर के सिद्धांतों में भी था। इस्लाम पर उसका प्रभाव हुआ। सूफीवाद उसी की प्रतिक्रिया थी। अनेक सन्तों ने जैसे रामानन्द, कबीर आदि ने नाना सम्प्रदायों की त्रुटियों की आलोचना और एकेश्वरवाद की प्रशंसा द्वारा संयुक्त विचारधारा का जन्म दिया और इसका प्रभाव भी बहुत हुआ। गुरु नानक ने इसी आधार पर दोनों धर्मों के अच्छे गुणों को लेकर नए सिखधर्म का सूत्रपात किया। इस प्रकार नये धर्म के प्रवर्तन हुए और पता चल गया कि दोनों धर्म एक दूसरे से प्रभावित हुए। हिन्दू लोग पीर-पैगम्बर-वादी बनने लगे और मुसलमान सीतला माता और पीर की पूजा करने लगे। धर्म परस्पर एक दूसरे से प्रभावित होने के अनेक प्रमाण उपस्थित हो गये।

कला—तत्कालीन भारत की कला पर मुसलमानों की गहरी छाप है। यह सर्वविदित है कि इसका प्रभाव उत्तर भारत में अधिक और दक्षिणी भारत में कम था। इसलिए उत्तर और दक्षिण की कला के स्तर पद्धति और सौन्दर्य में ही अन्तर है। परन्तु उत्तर भारत के मन्दिर और मस्जिद दोनों में बहुत साम्य है किन्तु दक्षिण भारत में भेद अधिक है। वहाँ उनकी रचना शैली में भारी अन्तर है। अतः यह सिद्ध होता है कि उत्तर में हिन्दू मुस्लिम सम्पर्क अधिक घनिष्ठ था और दक्षिण में कम था। इसी घनिष्ठता के आधार पर कला में भी परिवर्तन और प्रभाव हुए जो स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

साहित्य—यद्यपि मुसलमान लोग अपने साथ अरबी और फारसी भाषाएँ लाए थे किन्तु भारतीय भाषा भी उन्हें अपनानी पड़ी और उनके साथ भारतीय भाषाओं के सम्मिलन से ही उर्दू भाषा का जन्म हुआ है। यह बहुतों का उसी से मस्तिष्क की शक्तियों की अधिकता के कारण हिन्दी भाषा का विकास हुआ। इसलिए हम यह देखते हैं कि बोलचाल की हिन्दी और उर्दू लगभग एक सी है। दोनों में अरबी फारसी और संस्कृत भाषा के शब्दों का प्राचुर्य और प्रधानता है। ये भाषायें भी सम्प्रदाय के साथ नहीं रहीं बल्कि जनता की सम्पत्ति बन गई। यही कारण है कि उस समय के साहित्यकारों ने तत्कालीन भाषाओं में ही साहित्य सृजन किया। हिन्दू लेखकों ने सफलतापूर्वक अरबी फारसी का साहित्य लिखा और अनेक मुसलमान

विद्वानों ने हिन्दी साहित्य में सफलता प्राप्त की और यही भारतीय साहित्य कहलाता है। इस समय के साहित्य में विलासिता थी, नायिका भेद काव्यशास्त्र का प्रमुख विषय था।

सामाजिक जीवन—मुसलमानों के आक्रमणों के समय और उसके पश्चात् भारतीय समाज कोई उन्नति नहीं कर सका। सम्भवत पहले वह आत्मरक्षा की ओर लगा रहा और उसके बाद कुछ दिखाई नहीं दिया कि क्या किया जाय। धार्मिक दृष्टि से भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उस समय भी किसी भारतीय ने यह प्रयत्न नहीं किया कि देश के समस्त मत मतान्तरों को मिला कर एक संगठित मोर्चा कायम किया जाय ताकि वे सुरक्षित रह। ध्वस्त देवालय पुन बनवाये गए और कुछ धन भी एकत्रित किया गया किन्तु इससे कोई विशेष लाभ हुआ नहीं। पूर्ववत शैव, शाक्त, धर्म प्रचलित रहे। लिंगायत सम्प्रदाय नया चल पडा था। यह दक्षिण के शैव लोगों द्वारा चलाया गया था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी शिवलिंग गले म लटकाये रहते थे। यद्यपि यह क्रान्तिकारी सम्प्रदाय था, स्त्रियों और पुरुषों को समान मानता था, धर्म, समाज और परम्पराओं को समयानुसार परिवर्तित करना चाहता था परन्तु नए युग के लिए यह भी उपयुक्त नहीं था। जैन धर्म वैदिक धर्म वैष्णव धर्म यथावत् चलते रहे। इसलिए समाज म नई आपत्तियों का सामना करने की योग्यता उत्पन्न नहीं हो पाई। जाति-पाँति के बन्धन कठोर हो गये, ब्राह्मणों का प्रभाव उत्तरोत्तर बढता गया। निम्न श्रेणी के लोगों के प्रति हीनता का भाव बढता गया और अस्पृश्यता का रोग भयकर होने लगा। अन्तर्जातीय विवाह रुक गये और बाल विवाह सती प्रथा, पर्दा प्रथा बढने लगी। समाज म विषमता दिन प्रतिदिन बढती गई। अनेक प्रथाओं का श्रीगणेश मुख्य रूप से मुसलमानों के आक्रमणों के फलस्वरूप अपनी मर्यादा और सम्मान की रक्षा करना था। सतीत्व की रक्षा के लिए ही बाल विवाह पर्दा और सती प्रथा चल पडी। उच्च कुलों म जैसे ब्राह्मण और क्षत्रीय जाति के लोगों में ही यह अधिक बढी। राजपूतों म उसी समय से 'जौहर' की प्रथा चली। मुसलमान बहुत बर्बर और असभ्य थे। वे बहिन बेटियों के प्रति जो हिन्दू भाव रहते रहे हैं उन्हें समझने के लिए योग्य ही नहीं थे। उनके स्वय के यहाँ बहिनों से विवाह होना एक रिवाज है। इनसे रक्षा करने के लिए ही हमारे यहाँ स्त्रियों के लिए उपरोक्त सावधानियाँ अपनाई गई जिससे हमारा स्त्री समाज पिछड गया।

फिर भी हम यह स्वीकार करना पडेगा कि भारत म आकर मुसलमान वैसे ही नहीं रहे जैसे कि आये थे। वे सत्ताधारी थे, बलपूर्वक धर्म परिवर्तन भी उन्होंने किये और अपनी ही परम्पराओं का पालन भी करते रहे किन्तु अति प्राचीन भारतीय सभ्यता ने मेहदी के पीसने वाले को जैसे रग लग जाता है उसी प्रकार मुस्लिम जगत पर अपनी कई प्रकार की छापें लगाई। उदाहरणार्थ यहाँ की जाति प्रथा के प्रभाव से मुसलमानों म भेद उत्पन्न हो गया कुछ अंगों म संयुक्त परिवार प्रथा जाग्रत हो गई और बाल विवाह भी प्रचलित हो गया। शादी विवाह जन्म मरण तथा त्योहारों

के मनाने की पद्धतियाँ भी परिवर्तित हो गई। हिन्दुओं में देवताओं के विमान उल्लास के साथ निकाले जाते थे इसलिए भारतीय मुसलमानों ने मोहर्रम गमी का त्योहार होते हुए भी उल्लासपूर्वक मनाना शुरू कर दिया जो अभी तक प्रचलित है। भारतीय संगीत कला, वास्तु कला और रहन-सहन के ढंग, भवनों की सजावट, बनावट आदि सभी पर एक दूसरे का प्रभाव हुआ किन्तु मुसलमानों का प्रभाव, शासक वर्ग में होने के कारण अधिक हुआ। प्रशंसनीय बात यह फिर भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि प्राचीन हिन्दू संस्कृति ने अपनी मूल विशेषताओं को ज्यों का त्यों बनाये रखा। इसका एक कारण यह है कि भारत ग्राम्य व्यवस्था वाला देश है और मुसलमानों का प्रभाव गाँवों तक नहीं पहुँच सका था।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ भारत में मुसलमानों के आक्रमणों का वर्णन कीजिए।
२ मुगल साम्राज्य की स्थापना का इतिहास लिखिए।
३ भारतीय संस्कृति पर मुसलमानों के प्रभाव का वर्णन कीजिए और उस पर हिन्दू संस्कृति का क्या प्रभाव हुआ, यह भी लिखिए।

— o —

चौदहवां अध्याय

मध्यकालीन प्रशासन और समाज

प्रस्तावना—मध्ययुग में भारतवर्ष की शासन व्यवस्था अच्छी नहीं थी। इसका विस्तृत अध्ययन करने के लिए हम इसे दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) तुर्क और अफगानों की शासन-व्यवस्था और (२) मुगलकालीन शासन-व्यवस्था। वास्तव में इन दोनों व्यवस्थाओं में बहुत अन्तर था। यह तो सभी के लिए कहा जा सकता है कि केवल कुछ मुगल सम्राटों को छोड़ कर शेष सभी की व्यवस्था समस्त जनता की दृष्टि से सन्तोषजनक नहीं थी और जैसी व्यवस्था थी वह सदैव ही मुसलमानों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण और हिंदुओं के प्रति या तो शोषणपूर्ण अथवा उदासीन रही। यही स्थिति तत्कालीन समाज की भी रही है।

तुर्क और अफगानों की शासन व्यवस्था—इस समय के शासक वर्ग अधिकांश कट्टर मुसलमान थे और भारतवर्ष में प्रवेश करने के साथ ही जैसे उन्हें हिंदुओं के साथ हर प्रकार से ज्यादतियां करने का गुरुमन्त्र मिला हो धार्मिक और सामाजिक अत्याचार में रत हो जाते थे। प्रशासन मुस्लिम तरीका से संचालित किया जाता था, इसलिए मुल्ला और मौलवियों का प्राधान्य रहता था और सबसे बड़ा न्याय ग्रन्थ अथवा विधान संहिता उनकी कुरान शरीफ ही होती थी। उसी के अनुसार हिंदूवर्ग उनके 'काफिर' की श्रेणी में आता था जिसे पीड़ित करना उससे अधिकाधिक कर वसूल करना, आदि भी धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में माने जाते थे। हिन्दुओं की संख्या अधिक होने के कारण वे लोग इनके वश में तो पूर्ण रूप से नहीं आये और जहाँ जहाँ पुराने शासक और राजा लोग प्रभावशाली थे जैसे बंगाल राजपूताना आदि वहां मुसलमान लोग अपना सन्तुलित आधिपत्य जमा भी नहीं सके। अवसर मिलते ही ये लोग स्वतन्त्र हो जाते थे और बराबर मुकाबला करते थे। परन्तु मुसलमान शासक अपनी नीति में सुधार नहीं कर सके। भेद नीति द्वारा हिंदू मुस्लिम का अन्तर स्पष्ट रूप से चलता रहा और जनता के साथ सान्निध्य स्थापित नहीं कर सके। कुछ ऐसे प्रशासक और राजा भी अवश्य हुए जिन्होंने जनता के साथ उदारता का व्यवहार किया और धार्मिक सहिष्णुता भी अपनाई, किन्तु ऐसे लोग बहुत कम हुए। ऐसे उदाहरण के रूप में मुहम्मद तुगलक आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इस युग में कृषि, व्यवस्था कला और साहित्य का क्रम लगभग यथावत चलता रहा था।

इस समय राज्य का संगठन ऐसा था जिसमें सर्वोच्च शक्ति सुल्तान के हाथ में रहती थी। वह अपने परामर्श के लिए परिषद भी रखता था और उनके परामर्श का उपयोग भी करता था परन्तु यह परामर्श सुल्तान के लिए मान्य नहीं होता था। कुरानशरीफ ही एकमात्र पथप्रदर्शक ग्रन्थ था जो धर्म, न्याय और अनेक उलझनों के हल के लिए सामने रहता था। प्रबन्ध की सुविधा के लिए प्रशासन में कई विभाग

होते थे और प्रत्येक विभाग एक मंत्री के सुपुर्द होता था। वजीर मुख्य मंत्री होता था और अर्थ-व्यवस्था भी उसी के हाथ में होती थी। इसी प्रकार इस्लाम (धर्म), कजा (न्याय) इंशा (पत्र व्यवहार) आदि के मंत्री भी होते थे। राज्य की आय मुख्य रूप से भूमि कर, जकात, जजिया आदि साधनों से एकत्रित की जाती थी। कुछ धन युद्ध-स्थल की लूट और लावारिस सम्पत्ति का सदुपयोग भी मिलता था। न्याय की व्यवस्था मुसलमानी ढंग पर ही थी। काजी राज्य का प्रधान न्यायाधीश होता था और अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ भी वही करता था। दीवानी अभियोगों का निर्णय नागरिकों के सम्बन्धित धर्मग्रन्थों की सहायता से किये जाते थे। फिर भी अधिकांश हिन्दू विवाद पंचायतों के द्वारा ही निपटा लिये जाते थे, क्योंकि उनके लिए दण्ड विधान कठोर था और हिन्दू मुस्लिम के झगड़ों में न्याय मुसलमानी ग्रन्थों की ([illegible]) सहायता से किया जाता था।

राज्य का विस्तार होने की अवस्था में प्रशासन की दृष्टि से प्रान्तों आदि की व्यवस्था भी की जाती थी परन्तु एक सुन्दर सैनिक शासन व्यवस्था जैसी कोई वस्तु नहीं थी। इस समय सामन्त प्रथा प्रचलित थी। दूरस्थ भागों का प्रशासन सामन्त वर्ग के हाथ होता था जो अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होते थे। न्याय व्यवस्था और सैनिक नियन्त्रण के लिए वे स्वच्छन्द होते थे। केवल वार्षिक कर देना और युद्ध के अथवा आवश्यकता के समय सैनिक सहायता पहुँचाना ही, सम्राट के प्रति उनका मुख्य कर्तव्य था। कहीं-कहीं हिन्दू सामन्त भी होते थे परन्तु उनका नियन्त्रण अधिक होता था। यह व्यवस्था प्रमुख शासक के व्यक्तित्व से अधिक सम्बन्धित थी। साम्प्रदायिकता का अधिक जोर था और धार्मिक कट्टरता प्रधान थी। शारीरिक और सैनिक शक्ति का प्राधान्य था। इसलिए राज्य और राजवंश स्थायी नहीं होते थे। सैनिक शक्ति और संगठन में जरा सा अन्तर आते ही सामन्तगण विद्रोह करके स्वतन्त्र हो जाता था अथवा बाहरी आक्रमणों का तांता लग जाता था। यह व्यवस्था का रूप मध्यकाल के पूरे भाग में चलता रहा।

मुगलों की शासन-व्यवस्था—हमारे देश के इतिहास में मुगलों का शासन दीर्घकाल तक रहा और लगभग सभी प्रकार के शासक इस वंश में उत्पन्न हुए। महान सम्राट अकबर से लेकर औरंगजेब तक एक से एक अच्छा शासक हुआ, किसी ने साम्राज्य का विस्तार किया, शासन व्यवस्था जमाई, तो किसी ने कला-कौशल के क्षेत्र में उन्नति की, तो किसी ने न्यायप्रियता में अपना यश कमाया। इस प्रकार जनहित और राष्ट्रहित की प्रवृत्ति को जागृत किया। हिन्दू मुस्लिम भेद जो युगों से चला आ रहा था जिससे देश का वातावरण निरन्तर क्षुब्ध रहता था, समाप्त कर दिया गया। इस समय के सम्राटों की गणना विश्व के महान शासकों में होती है। ये भी मुसलमान ही थे किन्तु इनकी कट्टरता अपने ही तक सीमित थी। केवल औरंगजेब में धर्मप्रियता अधिक थी और धर्म भेद में उसका अधिक विश्वास था इसीलिए उसके शत्रु भी बहुत हो गये थे और साम्राज्य की नींव भी हिलने लगी थी। उसके बाद लगभग मुगल साम्राज्य नष्ट ही हो गया।

मुगल साम्राज्य की व्यवस्था बहुत अच्छी थी। सिद्धान्त रूप में तो शासक स्वेच्छाचारी ही होता था और उसके चरित्र का प्रभाव अधिक होता था। परन्तु प्रारम्भ के मुगल शासक वास्तव में प्रजावत्सल हुए और लोकहित को सर्वाधिक प्रधानता दी। धर्म भेद को महत्त्व नहीं दिया। इसीलिए राज्य के कर्मचारियों में सभी सम्प्रदायों के लोगों को सब प्रकार के पद केवल योग्यता के आधार पर दिये जाते थे। केवल अन्त के युग में इस नीति का अनुसरण नहीं हुआ। अच्छी शासन व्यवस्था के लिये सम्राट परामर्शदाता भी नियुक्त करता था और प्रत्येक काम उनकी सलाह से करता था। यद्यपि परामर्श स्वीकार या अस्वीकार करना सम्राट की स्वतन्त्र इच्छा पर ही निर्भर रहता था किन्तु वह उसका हमेशा सम्मान करता था। उन्हीं में से वजीर (मंत्री), दीवान और विभागाध्यक्ष भी नियुक्त किये जाते थे। मीर, बख्शी, सदर और काजी आदि की सहायता की भी शासन में अपेक्षा होती थी। न्याय के क्षेत्र में भी सम्राट सर्वोच्च न्यायाधिपति होता था और अंतिम निर्णय वही करता था किन्तु उसके नीचे दीवानी एवं धार्मिक अभियोगों के लिये सदर की नियुक्ति की जाती थी। काजी का स्थान भी महत्त्वपूर्ण था। इसके अतिरिक्त मुफ्ती (कानून व्याख्याता), मीर अदल (निर्णय घोषित करने वाला) आदि अन्य कई राज कर्मचारी होते थे। कानून की सहायता मुख्यरूप से कुरानशरीफ से ली जाती थी और दूसरे मामलों में सम्बन्धित व्यक्तियों के रीतिरिवाज के अनुसार निर्णय किये जाते थे। दण्ड-व्यवस्था कठोर थी। साधारण अपराध के लिए भी दण्ड कठिन दिया जाता था। मृत्युदण्ड भी प्रचलित था, किन्तु यह सदैव सम्राट की आज्ञा से ही दिया जाता था। अर्थदण्ड अधिक व्यवहार में आता था।

प्रबन्ध की दृष्टि से साम्राज्य, प्रान्तों में प्रान्त डिवीजन और जिलों में तथा अनुशासन की दृष्टि से जिले भी अनेक भाग और विभागों में बँटे हुये थे। प्रत्येक प्रान्त का मुख्य अधिकारी प्रान्तपति या सूबेदार कहलाता था। अधिकांश ये लोग सम्राट के वंशज होते थे और सम्राट की आज्ञानुसार ही शासन चलाते थे। उनके नीचे फिर प्रत्येक कर्मचारियों की क्रमिक शृंखला होती थी जिनमें उपप्रान्तपाल (नायब सूबेदार) दीवान (Revenue Collector), फौजदार (District Magistrate) और कोतवाल आदि अनेक प्रधान कर्मचारी होते थे। सामन्त प्रथा भी प्रचलित थी परन्तु ये लोग सम्राट के अधीन होते थे। अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होते हुए भी इन्हें सम्राट की सेवा में सदैव प्रस्तुत रहना पड़ता था। अधिकांश ये लोग सम्राट द्वारा ही बनाये जाते थे। अपनी शक्ति के आधार पर स्वयं बने हुये और सम्राट द्वारा बाद में मान्यता दिये हुये सामन्त नहीं थे। इस प्रकार मुगल साम्राज्य की शासन व्यवस्था अच्छी जमी हुई थी।

अभाव—फिर भी हम इस व्यवस्था को आदर्श नहीं मान सकते। अफगान एवं मुगल सम्राटों ने देश की सुरक्षा और सुधार की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। सत्ता की कठोरता का उपयोग करते हुए जनता पर निर्दयता और निर्ममता के साथ अंकुश रक्खा। आर्थिक क्षेत्र की समृद्धि बढ़ाने के लिए कृषि की सुविधायें देना,

व्यापार बढ़ाना, उद्योग धन्धे स्थापित करना आदि काय नहीं किये। शिक्षा की व्यवस्था नहीं की। उन्होंने देश के ही भिन्न भिन्न भागों को जीतने के लिए सेना पर अधिक व्यय किया इसलिए कुछ लोग इस समय के शासन को 'सैनिक शासन' का नाम भी देते हैं। इसके अतिरिक्त शाही समृद्धि के फलस्वरूप राजवंश में विलासिता का साम्राज्य जम गया और शानशौकत के कारण साम्राज्य का आधार खोखला हो गया। सम्पूर्ण भारत का एक साम्राज्य होने पर भी शासन केन्द्रित बना रहा इसलिए शिथिलता और अन्याय पनपने लगा और औरंगजेब के समय में तो यह स्थिति ऐसी हो गई कि जिधर सम्राट नहीं रहता था वहीं तो खुला विद्रोह होता ही था, किन्तु जहाँ वह स्वयं जाता था वहाँ भी व्यवस्था भंग होने लग गई थी। परन्तु दीर्घकाल तक साम्राज्य के जम जाने के कारण शासन का ढंग जम गया था। इसीलिए अकबर सरकार ने इस व्यवस्था वाली सरकार को पेपर गवर्नमेंट अथवा कागजी सरकार का नाम दिया है। सचमुच यह सरकार ऊपरी दिखावा मात्र अधिक थी और जनता का कल्याण करने वाली कम। इसलिए अन्त में इस सरकार का पतन हो गया।

मध्यकालीन समाज—प्रारम्भ में मुसलमानों के सम्पर्क से भारत के हिन्दू समाज पर विशेष प्रभाव नहीं हुआ। सामाजिक क्षेत्र में परम्परागत गतिविधि उसी रूप में चलती रही। केवल बाहरी प्रभाव से बचने के लिए समाज अपनी सीमाएँ दृढ़ करने में जरूर लगा। इसीलिए रूढ़ियाँ प्रधान बनने लगीं और समाज में जो प्रगतिशील रहने का गुण था वह कुण्ठित होने लगा। इसी के साथ समाज की समन्वय वृत्ति में भी जड़ता आई। जो समाज अभी तक बाहर से आने वाली जातियों के हाथ धीरे धीरे समय में उन्हें आत्मसात कर लेता था वह अब बाहरी जातियों से सचेत रहने लगा और जड़ता की ओर बढ़ा। इसका एक कारण यह भी था कि हूण, शक आदि लोग जो भारत में आये, वे कुछ अर्धसभ्य भी थे इसलिए वे अपने आप को इतना नहीं पहचानते थे कि किसी अन्य पर अपना प्रभाव डाल सकें अथवा उनके प्रभाव से बच रहने की इच्छा करें। मुसलमान इस सम्बन्ध में कट्टरता का गुण लेकर आये थे इसलिए वे जब भी थे बर्बर, नृशंस और निर्मम बने हुए बना रहना चाहते थे। उनके धार्मिक विश्वास और मान्यतायें दृढ़ थीं इसलिये भारतवासियों पर एक प्रकार से (Reflex action) की प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने भी अपनी प्रवृत्तियाँ बदलीं और बाहरी लोगों से घनिष्टता उत्पन्न करना या उनके साथ आत्मसात करना बन्द कर दिया। ऐसी स्थिति में अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये हिन्दुओं ने जाति के बन्धन कठोर कर लिये। अपनी संस्कृति की रक्षा और सामाजिक व्यवस्थायें उसी रूप में सुरक्षित रखने लगे। इस प्रवृत्ति से उन्नति का मार्ग तो रुक गया किन्तु प्राचीन तत्त्वों की रक्षा दृढ़ता से की जाने लगी।

इस प्रकार मुस्लिम सम्पर्क से हमारे समाज में कुछ भयंकर दोष भी उत्पन्न हो गये। मुसलमान स्वभाव से ही बर्बर और विलासी होते थे। स्त्रियों और धन के प्रति वे सदैव लोभी रहते थे। इसीलिए यहाँ पर्दा प्रथा, बाल विवाह, सती प्रथा और क्षत्रियों में 'जौहर' की प्रथा प्रचलित हुई। सती प्रथा का आरम्भ तो इसी निम्नलिखित

के वातावरण मे हुआ। सम्राट और नवाबो के यहाँ असख्य दास रहने लगे थे।

मुगलो के समय म सामाजिक दशा कुछ अच्छी थी। सामन्त प्रथा प्रचलित थी। इस समय हिन्दू और मुसलमान दोनो वर्गों म अनेक श्रेणियाँ बन गई थी। ईसाई धम का प्रचार भी यहाँ होने लगा था किन्तु यह धम अभी महत्वपूण नही हुआ था। समाज में मुख्य रूप से तीन वग थे—(१) राजवश और उच्चकालीन वर्ग—इसमे सम्राट और उसके वशज, राजा महाराजा और उमराव तथा सम्पत्ति शाली लोग सम्मिलित थे। इनके पास धन की प्रचुरता थी और भव्य भवनो मे शान-शौकत के साथ रहते थे। समाज म बहुत प्रतिष्ठा थी। इनके यहा विलासिता की समस्त सामग्री, कचन, सुरा और सुन्दरियो का ठाठ था। प्रत्येक के रनिवास म सैकडो अतीव सुन्दरियाँ विराजमान थीं और दूसरे उपादान सगीत, नत्य, द्यूत, विनोद आदि के समस्त साधन भी उपलब्ध रहते थे। (२) दूसरा वग मध्यम श्रेणी के लोगो का था। यह विकास इस युग मे ही हुआ था। इसम राज्य क कमचारी व्यापारी, सम्पत्तिशाली, शिल्पी और अच्छे लिपिक और लेखक तथा साहित्यकार सम्मिलित थे। इनका जीवन साधारण होता था। (३) इस श्रेणी मे निम्न वग के लोग थ। किसान, साधारण कमचारी सनिक शिल्पकार और श्रमिक इस वग म आते थे। ये लोग नित्य कुआँ खोद कर नित्य पानी पीने वाला म थे। आर्थिक स्थिति चिन्ताजनक थी किन्तु समाज का अधिक भार भी इसी वग पर था। बगार प्रथा इन्ही के सिर पर चलती थी। विभिन्न प्रकार के शुल्क और कर भी ये लोग देते थ। भूमि का स्वामित्व भी इनका नही था और सामन्तो की स्वेच्छानुसार इनकी सम्पत्ति भी जब्त कर ली जाती थी। ऐसी अनीति तत्कालीन समाज म फैली हुई थी।

उपरोक्त वणन से हम इस निणय पर पहुँचते हैं कि भारतवष म हिन्दू और मुसलमानो के सम्पक से जो नवीन वातावरण बना उससे वास्तविक सामाजिक प्रगति म अवरोध उत्पन्न हुआ। दोनो सस्कृतयाँ एक बार जड बन गई। अपनी अपनी सीमाओ मे यथावत् बनी रहने का यत्न करती रहीं और धीरे धीरे ज्यो ज्यो समन्वय हुआ उस समय तक वे जडता का शिकार बन गई इसलिये सामाजिक प्रथायें कुरीतियो के रूप म प्रकट होते रहने पर भी उनसे दूर नही रह सकीं। यद्यपि यह सच है कि इस दृष्टि से भी हिन्दू समाज के अधिक सिद्धान्त नीति पर आधारित रहे और मुसलमान केवल अपनी धार्मिक कट्टरता के आधार पर ही डटे रहे और अनैतिक व्यवहार पर विश्वास करते रहे, फिर भी समय और स्थिति के अनुसार सारी परिस्थितियाँ बदलती गई और अन्त म समस्त समाज भारतीय समाज के रूप म ढल गया।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ मध्यकालीन तुक और अफगान शासन व्यवस्था का वणन कीजिए।
२ मुगलों की शासन व्यवस्था के मुख्य तत्वों का विवेचन कीजिए।
३ मुसलमानों के सम्पक से हिन्दुओं में कौन कौन सी सामाजिक बुराइयाँ उत्पन्न हुई और क्यों ? समझाकर लिखिए।

— ० —

पन्द्रहवाँ अध्याय

भारत की समन्वित संस्कृति का विकास

(Growth of a composite Indian Culture)

प्रस्तावना—भारतवर्ष की संस्कृति किस प्रकार विकसित हुई है यह बहुत लम्बी कहानी है। प्राचीनकाल और वैदिक काल की आर्य और वैदिक संस्कृति के निरन्तर विकास के फलस्वरूप ही नवीन संस्कृति विकसित हुई है। यह सत्य है कि दीर्घकाल तक भारतीय संस्कृति में अपने भीतर आत्मसात करने की अद्भुत क्षमता रही और बाहरी सम्प्रदायें और संस्कृतियाँ जिन्होंने इस देश में प्रवेश किया वे एकाकार हो गई। यही कारण था कि भारतीय संस्कृति के शाश्वत विकसित रूप में कहीं कोई बाधा या रुकावट नहीं आई। शक, हूण, पार्थियन, यूनानी आदि भी यहाँ आये शीघ्र ही भारतीय रंग में रंग गए। यह क्रम सर्वप्रथम मुसलमानों के आगमन से अवरुद्ध हुआ। वास्तव में बात यह थी कि भारतवासी तो यह समझते रहे कि जैसे अन्य और जातियाँ आई हैं वैसे ही यह जाति भी आ रही है और थोड़े समय पश्चात् यथा स्थान प्राप्त करने पर यह भी भारतीय बन जायगी, किन्तु बात बिल्कुल विपरीत थी। मुसलमान कट्टर धर्मान्ध तो थे ही वे धर्म परिवर्तन के लिए भी कटिबद्ध थे और अपने देश में इसी साधन से धर्म प्रचार और धर्म प्रतिष्ठा जमाते आये थे। इसलिए यहाँ भी उन्होंने यही मार्ग अपनाया किन्तु भारत विचित्र देश था। भारतीय संस्कृति को समाप्त करना उनके लिए सम्भव नहीं हुआ और इसकी समाप्ति के बिना भारत राष्ट्र मुसलमानों का हो नहीं सकता था। इसलिए शासकों के बल प्रयोग द्वारा तलवार से धर्म प्रचार और धर्म परिवर्तन करने पर भी जब मुसलमानों को अपने धर्म का एक छत्र राज्य स्थापित करना सम्भव नहीं हुआ तब यह समन्वय आरम्भ हुआ। एक दूसरी संस्कृति का परस्पर प्रभावित होना एक स्वाभाविक घटना हुई। इसी मिली जुली संस्कृति अथवा समन्वित (मिश्रित) संस्कृति का अध्ययन हम यहाँ करेंगे।

सर जान मार्शल के मतानुसार हिन्दू और मुस्लिम दो परस्पर विरोधी संस्कृतियों का समन्वय वास्तव में भारत की ही नहीं विश्व का इतिहास की एक विलक्षण और दिलचस्प घटना है। इस कार्य में भारतवर्ष दोनों सम्प्रदायों का सहयोग रहा है। दोनों जाति के सब विद्वान साहित्याचार्य एवं अन्य विभूतियों ने प्रतिवचनीय सहयोग किया है। आरम्भ में तो जब मोहम्मद कासिम का आक्रमण हुआ तब भारतवासी यह नहीं समझते थे कि वे यहीं आकर बस जायेंगे और हम पर अपना धर्म रीति रिवाज आदि थोपेंगे। इनके पूर्व आक्रमणों की भाँति लूट मार कर वापस चले जाने की आशा किए थे। परन्तु वे तो अपना धर्म प्रचार करना चाहते थे। इसलिए भारतीय दर्शन, ज्ञान और कला का छुआ तक नहीं और नष्ट

करना आरम्भ कर दिया। उनके धर्म में इन कार्यों से दूसरों का धर्म नष्ट करने से भगवान प्रसन्न होता था। इसलिए वे इन कामों में लग गये। इस कारण से ही हिन्दुओं में आत्मरक्षा और अपनी संस्कृति तथा धर्म, दर्शन, कला आदि की रक्षा की चिंता हुई और अनेक बंधन लगाये गये। प्रत्यक्षत अनुदारता आरम्भ हुई। जनता के धर्म परिवर्तन के सम्बन्ध में पहले तो यह उदारता रही कि जबरदस्ती जो लोग मुसलमान बनाये जाते थे वे कुछ प्रायश्चित और व्रत, तीर्थ आदि के पश्चात् पुन हिन्दू बना लिए जाते थे किन्तु थोड़े समय बाद अनुदारता अधिक व्यापक हो गई और धर्म परिवर्तित लोगों का हिन्दू समाज में पुन प्रविष्ट होना कठिन हो गया और द्वार सदैव के लिए बन्द हो गया। एक दूसरे में अब दोनों समाज एसे पृथक हो गये कि मिलने की सभावना ही नहीं रही। किन्तु एक ही स्थान पर रहने के कारण दोनों की प्रथाओं भाषा आदि का परस्पर प्रभाव होना अनिवार्य था। उसी के फलस्वरूप समन्वित सभ्यता का विकास हुआ। दोनों वर्ग के लोग परस्पर हिलने मिलने लगे। एक दूसरे के दुख सुख में सम्मिलित होने लगे किन्तु सम्प्रदाय अलग ही रहे। अंग्रेजों ने इसी भावना का उपयोग कर यहाँ विभाजित करो और शासन करो की नीति के अनुसार शासन चलाया।

परस्पर भेद का मूल आधार—हिन्दू और मुसलमानों में यदि किसी चीज में मूल रूप से भेद है तो वह धर्म है। हिन्दू धर्म और मुस्लिम धर्म एक दूसरे से विपरीत हैं। हिन्दू मूर्ति पूजा में विश्वास करते हैं मुसलमान नहीं। हिन्दू पुनर्जन्म और कर्म सिद्धान्त में विश्वास करते हैं, मुसलमान नहीं। हिन्दू सहिष्णु हैं, मुसलमान कट्टर। और इसी प्रकार हिन्दू और मुसलमानों की भाषा, वेशभूषा, रीति रिवाज आदि सब विपरीत हैं। यदि ध्यान से देखें तो पहले हिन्दुओं में भी वैदिक काल से लेकर उपनिषद काल तक मूर्ति पूजा नहीं होती थी। बाद में इसका प्रचार हुआ था और मुसलमानों में पहले अरब में मूर्ति पूजा प्रचलित थी बाद में मुहम्मद साहब ने विरोध करके उसे समाप्त किया था। इस प्रकार दोनों का विकास विपरीत रहा। हिन्दू धीरे धीरे मूर्ति पूजक बने और मुसलमान धीरे धीरे मूर्ति पूजा के विरोधी बने। वास्तव में हिन्दू लोग मूर्ति को भगवान न मानकर उनके ध्यान के लिए एक प्रतीक या साधन मानते रहे हैं। इस प्रकार दया और लोक व्यवहार के सिद्धान्त भी जो अलग अलग हुये वे सब धर्म के कारण। अत मूल अन्तर दोनों में सम्प्रदाय अथवा धर्म का था और उसके आधार पर ही अन्य बातें विकसित हुई।

हिन्दू धर्म की रक्षा—मुस्लिम धर्म के साथ कुछ ऐसी विशेषतायें थीं कि जिनके कारण उसका प्रसार रोकना सरल नहीं था। राज्य की सत्ता उनके हाथ में थी इसलिए उनकी भाषा रीति रिवाज और मान्यतायें समाज में स्वत प्रचलित हो गईं। फिर उनके धर्म में काफिरों को सताना उनका धर्म परिवर्तन करना एक पुण्य कर्म था। उसमें तब वे लोग धर्मान्धता के कारण लड़ते थे तो राज्य की ओर से और भी प्रोत्साहन दिया जाता था। धर्म परिवर्तन करने वाले का कुछ समय समाज और राज्य में सम्मान भी होता था। हिन्दुओं में अपनी अनुदारता के कारण

जातिगत बन्धन कठोर हो गए। एक जाति में दूसरी जाति को ऊँच नीच समझने की भावना भी उत्पन्न हो गई और फिर धर्म बदल लेने वालों के लिए पुनः प्रवेश पाने का द्वार भी बन्द हो गया था। ऐसी स्थिति में हिन्दू धर्म की सुरक्षा का बहुत जटिल प्रश्न उपस्थित हुआ। विरोधी लोग हिन्दू धर्म की कमजोरियाँ ढूँढ़ते थे और समर्थक उसके गुण।

इस समय में कुछ उद्भट विद्वान और प्रकाण्ड पण्डितों ने हिन्दू धर्म की सुरक्षा का कार्य अपने हाथों में लिया। लगभग १४वीं शताब्दी में विजयनगर में श्री माधव ने कुछ ऐसे ग्रन्थ लिखे जैसे पाराशर स्मृति टीका आदि जिनमें हिन्दू धर्म की विशेषताओं का वर्णन किया। बंगाल के पण्डित रघुनन्दन भी इसी श्रेणी में आते हैं। इन्होंने ऐसी व्यवस्था का प्रतिपादन किया कि जिससे हिन्दू धर्म अक्षुण्ण बना रहे और बाहरी तत्व उसे छू न पावें। परन्तु एक साथ रहने वाली जातियों के लिए इस प्रकार की व्यवस्था व्यवहार्य नहीं थी। धीरे धीरे परस्पर प्रभावित होना प्रारम्भ हुआ।

दोनों संस्कृतियों के समन्वय का प्रारम्भ—इस स्तर पर आने के बाद भारतवर्ष में अनेक भक्त, महात्मा और विद्वान हुए जिन्होंने हिन्दू और मुसलमानों में कोई भेद स्वीकार नहीं किया वरन् इसके विपरीत दोनों धर्मों के अच्छे तत्वों की मान्यता दी और दोनों की बुराइयों के लिए समान रूप से आलोचना प्रारम्भ की। इस प्रक्रिया को कुछ लोग 'भक्ति का आन्दोलन' का नाम देते हैं क्योंकि रामानन्द कबीर, सूर, तुलसी आदि अनेक सन्त लोग ही इसमें प्रधान रूप से सक्रिय रहे। इस युग में (मध्यकालीन) समस्त भारत की विभिन्न भाषाओं हिन्दी गुजराती मराठी बंगला तामिल आदि में साहित्य की रचना हुई और अनेक सन्तों ने इस सरल ज्ञान को जनता तक पहुँचाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। वर्तमान समय में भी इन सन्त महात्माओं का प्रभाव जन जन के हृदय पटल पर अंकित है और सदियों तक रहेगा ऐसी आशा है। इस पवित्र कार्य में सहयोग देने वाले कुछ प्रतिनिधि सन्तों का संक्षिप्त अध्ययन हम यहाँ करेंगे।

श्री रामानुजाचार्य—ये भक्ति मार्ग के प्रथम उपदेशक थे। सन् १०१७ में उनका जन्म हुआ था। इनके मत को 'विशिष्टाद्वैत' कहते हैं जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इन्होंने ईश्वर का प्रेम की प्रतिमा के रूप में उपस्थित किया। ये भगवान के विष्णु रूप की उपासना करते थे और ब्रह्म की एकता और अस्तित्व में अटूट विश्वास करते थे। चूँकि ये प्रथम उपदेशक थे इसलिए प्रारम्भिक कठिनाइयों के कारण ये उतने अधिक लोकप्रिय नहीं हो सके जितने इनके बाद में होने वाले सन्त और आचार्य।

स्वामी रामानन्द—नवीन आन्दोलन के ये प्रथम प्रतिनिधि माने जाते हैं। इनका जन्म चौदहवीं शताब्दी में प्रयाग में एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। ये शैशव काल से ही विचारक और ईश्वर प्रेमी थे। ये राम के उपासक थे, उनके सगुण और निर्गुण दोनों रूपों की भक्ति करते थे। इसका प्रचार करने के लिए ये सुयोग्य हो

गये। जाति पाति का भेद नहीं मानते थे और भक्ति सबके लिए जरूरी मानते थे। नीच जाति के लोगों के प्रति उनकी सहानुभूति बहुत थी और वे उन्हें अपना शिष्य बनाते थे। उनका विश्वास था कि भगवान के यहाँ सब बराबर हैं और मुक्ति प्राप्त करने के लिये जीवन निष्पाप और शुद्ध होना चाहिये। इनके बारह प्रमुख शिष्य थे, जिन में नाई चमार, जुलाहा आदि सभी जातियों के लोग थे। उनके शिष्य कबीर, पीपा सुरवा, सुरसुरा भवानन्द सेना, धन्ना पद्मावती नरहरि रैदास, सुरसुरा की पत्नी और अनन्तानन्द थे। अपने शिष्यों के कारण ये लोकप्रिय रहे।

महात्मा कबीरदास—कबीर साहिब का जन्म काशी में एक ब्राह्मण के यहाँ हुआ माना जाता है (सन् १३९८)। किन्तु लालन पालन एक जुलाहे के घर हुआ जिसे ये एक तालाब के किनारे पर पड़े हुए पाये थे। उस जुलाहे के सन्तान नहीं थी, इसलिए उसने पुत्रवत ही इनका पालन किया। लगभग सौ वर्ष से भी अधिक ये जीवित रहे थे। ये प्रथम भक्त थे जिन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों को खरी खरी सुनाई और अभी तक एक दूसरे से दूर रहने वाले लोगों को एक ही स्थान पर भाई भाई की भाँति इकट्ठा कर दिया। इनके विश्वास बड़े सरल और स्पष्ट थे। भगवान के लिए ये किसी विशेष नाम का प्रयोग नहीं करते थे। इनका सिद्धान्त था कि ईश्वर को प्रसन्न करने एवं प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सरल और सच्चा जीवन व्यतीत करना चाहिए और बाह्य आडम्बरों को त्यागना चाहिए। उन्होंने धार्मिक अन्धविश्वास, जातिभेद और धार्मिक असहिष्णुता की कड़ी आलोचना की। उनके दोहे और पद अध्यात्म और रहस्यवाद से युक्त भी हैं और सरल भी। सूफीवाद से भी वे प्रभावित थे। इसलिए विरहिन, सूक्ष्म मार्ग, शृंगार नदी आदि का वर्णन किया है। हिन्दी कविता में कबीर का स्थान बहुत ऊंचा है। वे एक सच्चे समाज सुधारक और हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रथम पुजारी और प्रतिस्थापक थे। उन्होंने मूर्ति पूजा और मस्जिद की आलोचना की और इनके आडम्बरों का खोखलापन बताया। ये सचमुच निरपेक्ष संत थे जिन्हें मानव समाज की सेवा करनी थी किसी सम्प्रदाय विशेष की नहीं। इसीलिए हिन्दू इन्हें हिन्दू और मुसलमान इन्हें मुसलमान मानते थे। इनका देहावसान भी काशी में ही हुआ था।

गुरु नानक—इनका जन्म १४६९ ई० में लाहौर के पास तलवंडी गांव में हुआ था। ये जाति से खत्री थे। इन्होंने देश विदेश की बहुत यात्रा की थी। ये भी जाति पाति के विरोधी थे। मनुष्य के जीवन की पवित्रता वे अनिवार्य बताते थे। हिन्दू मुस्लिम एकता पर इन्होंने भी बहुत बल दिया था। इन्होंने बाहरी आडम्बर को व्यर्थ बताया है। मंदिर, मस्जिद और वेद कुरान का भेद वे व्यर्थ बताते थे। काबा की जियारत और श्मसान का निवास व्यर्थ है, तीर्थ अनिवार्य नहीं है। ये भी गुरु परम्परा में विश्वास करते थे कि गुरु बिना ज्ञान नहीं हो सकता। इन पर भी सूफीवाद का प्रभाव था और हिन्दू मुसलमानों के भेद को मिटाने की इनकी प्रबल इच्छा थी। ६९ वर्ष की अवस्था में इनका स्वर्गवास हुआ था।

अन्य संत—इसी समय अन्य अनेक संत हुए जिनमें काशी के रैदास (चमार)

धर्मदास, बंगाल में चैतन्य देव, राजस्थान में मीरा एवं नरसी मेहता (इनका माहीरा राजस्थान के गांवों में बहुत लोकप्रिय है), दक्षिण में वल्लभाचार्य (कृष्णभक्ति के प्रतिपादक), महाराष्ट्र में नामदेव एवं ज्ञानदेव आदि हुए हैं। इन महान् आत्माओं के प्रयत्न से हिन्दू मुस्लिम एकता की स्थापना हुई—परस्पर भेद भाव जाता रहा और धीरे धीरे समन्वय भावना पुनः विकसित हुई और जिसका सुन्दर रूप मुगलकाल में उपस्थित हुआ।

समन्वित विकास क्रम

भाषा और साहित्य—भारतवर्ष में मुसलमानों के जम जाने के बाद भाषा परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। भारतीय भाषाओं में अरबी और फारसी के शब्द घुसने लगे और मुसलमान लोग अपनी बातचीत में भारतीय शब्दों का प्रयोग करने लगे। यह स्वाभाविक विकास था। जब दोनों जातियाँ मिल जुल कर रहने लगीं तो सर्वप्रथम बोलचाल के द्वारा ही विचारों और भावों का आदान प्रदान हुआ। फिर इसके साथ कुछ अन्य साहित्यकार और संतों का योग भी मिला जिनमें कबीर, रहीम और अमीर खुसरो आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। खुसरो ने लगभग सौ वर्ष की उम्र प्राप्त की थी और वह फारसी का विद्वान भी था। इसलिए उसने एक फारसी और हिन्दी का कोष लिखा। इससे प्रकट होता है कि हिन्दी का नवीन रूप विकसित होने लग गया था। कबीर दास की हिन्दी और भी ऊँचे स्तर की थी। यही नहीं भाषा के विकास में अन्य बहुत से शासकों ने भी सहयोग दिया जिनमें काश्मीर के सुलतान जैनुल आब्दीन बंगाल के हुसेनशाह आदि प्रमुख थे। इस समय भारतीय दर्शनशास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र और ज्योतिष शास्त्र उन्नति की चरम सीमा पर थे। इससे विदेशी भी प्रभावित हो गए थे। इसीलिए मुसलमान भी इस ज्ञान से प्रभावित हुए। यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि इस युग में प्रान्तीय भाषाएँ स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई हैं। कुछ संतों ने ब्रजभाषा कबीर आदि ने हिन्दी भाषा, नामदेव आदि ने मराठी चैतन्य महाप्रभु ने बंगला और सभी जगह भ्रमण करने वालों ने संस्कृत और फारसी दोनों भाषाओं को अपनाया था। यह समय समन्वय का युग था। इसलिए हिन्दू विद्वानों ने फारसी में भी रचनाएँ कीं और मुसलमानों ने हिन्दी में काव्य और साहित्य का सृजन किया। मुसलमानों की तवारीख (इतिहास) में विशेष रुचि थी। जियाउद्दीन बरनी और शम्स सिराज अफीफ इस समय के अच्छे इतिहासकार थे। मुगल कालीन स्थिति में साहित्य और भाषा की ओर भी अधिक उन्नति हुई। इसी समय हिन्दी और फारसी के संयोग से उर्दू का आविर्भाव हुआ और जायसी ने अवधी में 'पद्मावत' को लिखा। रीतिकालीन साहित्य का सृजन, जिसमें शृंगार रस, नायिका भेद आदि प्रमुख थे देव, बिहारी, मतिराम आदि विख्यात कवियों द्वारा इसी युग में हुआ।

वास्तुकला—हिन्दू और मुसलमानों के शान्तिमय जीवन का प्रारम्भ होते ही जैसे भाषा साहित्य और रीति रिवाज का समन्वित विकास हुआ। इसी प्रकार

कला भी प्रभावित हुई। दोनो जातियों की कला मे भी आदान प्रदान हुआ। इस समय के भवन, मूर्तियाँ और स्थापत्यकला के क्षेत्र मे यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इसे "भारत मुस्लिम" (Indo Islamic) कला कहते हैं। इस समय की निर्मित तुगलकशाह की कब्र, अटाला मसजिद और जामा मसजिद, तत्कालीन कला के सुन्दर उदाहरण हैं। हिन्दू कला भी इस समय विकसित हो रही थी और विशेष तौर पर राजस्थान म यह कला अधिक प्रभावशाली थी।

इस युग की वास्तुकला के क्षेत्र म गुम्बज, मीनारें, महराब तथा पटाव (Vault) अधिक महत्वपूर्ण रहे हैं। यह समन्वित भारतीय कला का ही परिणाम था। हुमायूं का मकबरा, कुतुबमीनार, फतहपुर सीकरी और आगरे के महल उसी समय की रचनाएँ हैं। देखन म ये ऐसी लगती हैं जैसे किसी हिन्दू सम्राट ने बनवाई हो। इसम ईरानी शैली का प्राधान्य है। किन्तु इस कला के अनेक अंश भारत म पहले से ही थे। गुम्बज की गोलाई और गदन का स्वरूप भारतीय ही है। फतहपुर सीकरी मे बुलन्द दरवाजा (जो १३० फीट ऊँचा है), दीवाने-ए-खास इबादतखाना (प्राथना भवन जो कमल पुष्प के रूप म एक स्तम्भ पर स्थित करके बनाया गया है) और पंच महल (बौद्ध विहार के ढंग पर) उल्लेखनीय स्थान है। इनके पंख, छाजने (उनरंग), रोड आदि पूर्णरूप से भारतीय ढंग के हैं। इस प्रकार भारतीय और ईरानी कला का सुन्दर समन्वय हुआ। ईरानी शैली में रंगीन खपरलें उपवन और उद्यानों के मध्य भवन और प्रासाद तथा निर्माण म कला प्रधान मुख्य होता है तथा भारतीय शैली म कटी हुई महराब दुहरे स्तम्भ सजावट आदि के तत्त्व मुख्य होते हैं। इन्हीं का समन्वय हुआ शाहजहा के समय म यह कला उन्नति चरम सीमा पर थी। इन भवनो को देखकर आज भी कवियो की कल्पना जागृत हो जाती है। इसीलिए मोती मसजिद को 'भावपूर्ण प्रस्तर काव्य' और ताजमहल को "स्फटिक मय स्वप्न" और 'अत्युत्तम सौंदर्य' कहा जाता है।

चित्रकला—इस समय की चित्रकला म भी हिन्दुस्तानी और फारसी तत्वो का समन्वय हुआ। इसका सबसे अधिक विकास अकबर महान के समय मे हुआ। उसके दरबार मे अनेक चित्रकार रहते थे। राजपूतो के सम्पक से वह हिन्दू कला का का प्रेमी बन गया और चित्रकला की उन्नति के लिए अनेक ईरानी और भारतीय चित्रकार नियुक्त किए। विदेशी चित्रकार फिर भी कम थे और इनम समद, खुसरो कुली जमशेद फरूखवेग आदि प्रमुख थे। भारतीय चित्रकारो म केशव मुकुन्द लेखावनलाल जगन्नाथ, हरिवंश आदि हिन्दू लोग थे जो खाती कायस्थ, कहार, सलावट आदि जातियों के थे। ये सब लोग मिलकर काम करते थे। एक ही चित्र बनाने म कोई रेखाएँ बनाता था, तो कोई रंग भरता था और बाद म पूरा होने पर उस्ताद उसकी सफाई करता था। इस प्रकार अकबर के समय म चित्रकला बहुत विकसित हुई। यही नहीं वह प्रदर्शिनी करवाता चित्रकारो को पुरस्कृत करता सम्मानित करता चित्रकला संबंधी रंग, कागज आदि मँगवाकर देना आदि विभिन्न रूपों म इस क्षेत्र की उन्नति मे लगा रहता था। अबुलफजल ने लिखा है भारत के

तत्कालीन चित्रकारों की समता विश्व में कहीं के चित्रकार भी नहीं कर सकते थे। उसी समय के अद्वितीय ग्रन्थ रज्मनामा (जयपुर), अकबरनामा (लन्दन) और बाबरनामा अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जहाँगीर के समय में भी इस कला की उन्नति हुई और भित्ति चित्रों की प्रथा चली। कागज पर भी चित्र बनाए गए और इनका सम्मान बढ़ा। इसी समय राजपूत कला का स्वतन्त्र विकास हुआ जिसमें पौराणिक गाथाएं, ऋतु वर्णन, राग रागिनियाँ, बारहमासा आदि के रूप में अनेक स्कूलों का विकास हुआ जिनमें कांगड़ा, बूंदी, जयपुर, मेवाड़, मारवाड़ आदि की कलाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। शाहजहाँ के समय यह उत्साह ठण्डा हो गया था और औरंगजेब ने तो धर्म के प्रतिकूल समझकर इस कला को समाप्त ही कर दिया। इस प्रकार हिन्दू और मुस्लिम प्रभाव से सम्मिलित चित्रकला ने बहुत उन्नति की।

संगीत कला—इस क्षेत्र में भी दोनों जातियों के समन्वय का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। मुसलमानों के आगमन तक तो यह क्षेत्र पर्याप्त उन्नत रहा किन्तु मुगलों ने इस क्षेत्र में भी उन्नति की। बाबर स्वयं शायर था और हुमायूँ उसका अच्छा ज्ञाता था किन्तु मुसलमानों के यहाँ संगीत में स्वर और राग रागिनियों की व्यवस्था नहीं थी। इन दोनों के समन्वय से संगीत कला में परिवर्तन हुआ। उसके बाद अकबर भी संगीत प्रेमी था। प्रसिद्ध तानसेन और बैजू बावरा उसी के समय में हुए थे। मुगल काल में ही ख्याल और ठुमरी का प्रचार हुआ और साधारण परिवर्तन के साथ नई राग रागिनियाँ भी प्रचलित हुईं जिनमें बहार, दरबारी, मियाँ की टोड़ी आदि प्रधान हैं। वाद्ययन्त्र तो अनेक बन ही गए। गायकी का विकास सम्भवतः इस युग में हुआ है। जैसे वीणा, सितार, इकतारा, तानपूरा आदि पहले ही भारत में थे। अरबी ढोल, नक्कारा, तम्बूरा आदि विदेशी प्रतीत होते हैं परन्तु मुगलों के साथ केवल नाम का उल्लेख होने के अतिरिक्त कोई विशेष प्रमाण प्राप्त नहीं है। यह समन्वय भी उत्तर भारत में ही सीमित रहा। दक्षिण भारत में तो अब तक भी प्राचीनकाल के शास्त्रीय संगीत और वाद्य प्रचलित हैं।

उपसंहार—इस प्रकार भारतवर्ष की समन्वित संस्कृति का विकास हुआ जिसमें सम्पूर्ण रूप से जीवन के विभिन्न अंग प्रभावित हुए। भाषा, साहित्य, कला, रीति रिवाज, धर्म, विचार आदि सभी का नवीन रूप विकसित हुआ। इसी का नाम भारत की समन्वित सभ्यता है जो न केवल हिन्दुओं की है और न केवल मुसलमानों की। वरन सम्पूर्ण राष्ट्र की सम्पत्ति है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ भारत की समन्वित सभ्यता से क्या समझते हो, समझाइए।

२ भारत की समन्वित सभ्यता में भाषा, साहित्य और संगीतकला के विकास का वर्णन कीजिए।

३ भारतीय सन्तों ने इस समन्वित सभ्यता के विकास में क्या योग दिया? सविस्तार लिखिए।

४ भारतीय सभ्यता की चित्रकला पर एक निबन्ध लिखिए।

सोलहवा अध्याय

मुगल-साम्राज्य का ह्रास और अंग्रेजो की विजय

प्रस्तावना—मुगल साम्राज्य के समय भारत की सर्वांगीण उन्नति का अध्ययन हम कर चुके हैं। दीर्घ काल तक समुचित व्यवस्था और शासन प्रबन्ध चलाने के बाद भी मुगल साम्राज्य स्थायी न रह सका यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ससार म यह उक्ति बहुत प्रचलित है कि 'शक्ति द्वारा उत्पन्न वस्तु शक्ति के द्वारा ही नष्ट हो जाती है। मुगल साम्राज्य भी इसका अपवाद नहीं था। अनेक सुयोग्य शासकों द्वारा शासित होने के कारण ही यह लम्बे समय तक टिक सका किन्तु अयोग्य उत्तराधिकारी और उनके विलासी होने के कारण तथा परस्पर सघर्ष और मनमुटाव के कारण, वही साम्राज्य विलीन भी हो गया। यह सच है कि दीर्घ काल म जमे हुए साम्राज्य का ह्रास भी दीर्घकाल म ही हुआ।

मुगल साम्राज्य का पतन—औरगजेब के शासनकाल तक मुगल साम्राज्य वस्तुत सम्पन्न और व्यवस्थित था किन्तु उसकी धर्मान्धता अपने वशजों के प्रति अविश्वास पाशविक हिंसावृत्ति और हिन्दुओं के प्रति द्रोह का व्यवहार रखने के कारण समस्त देश म असन्तोष कर गया था। यही कारण है कि उसकी वृद्धावस्था म ही देश म अनेक उपद्रव होने लगे। दूरस्थ देशों के हिन्दू और मुसलमान शासक स्वतन्त्र होने लगे विद्रोह करने लगे और नई नई जातिया और दल भी विकसित हो गए। दक्षिण म मराठा लोग जबरदस्त शक्ति के रूप में हिन्दुओं के त्राता बनकर सगठित हुए, उत्तर म जाट लोगो ने मुगलो का सामना करना शुरू किया, राजस्थान मे वीर दुर्गादास और राणा परिवार स्वतन्त्रता के उपासक चैतन्य हुए और सिक्ख लोग अपना अलग राज्य विस्तार करने लगे। ऐसी स्थिति म ठगों और पिंडारियों ने देश म अराजकता का नग्न स्वरूप उपस्थित कर दिया। लूटमार प्रतिदिन की घटना बन गई। मराठे जाट, पिंडारी आदि सभी नशस बन गए। इस प्रकार औरगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य का पतन बहुत शीघ्र हुआ। सन् १७१९ मे फरुखसियर की हत्या कर दी गई और प्रान्त स्वतन्त्र हो गए। मराठा ने दिल्ली तक धावे शुरू कर दिए (१७३८) और नादिरशाह ने (१७३९) दिल्ली म कत्ले आम करवा कर अपार सम्पत्ति (मयूर सिंहासन भी) लूट कर ले गया। सन १७८८ म गुलाम कादिर रोहिला ने दिल्ली पर आक्रमण करके शाहआलम की आँखें फोड दी और समस्त सम्पत्ति को लूटकर ले गया। इस प्रकार मुगल साम्राज्य की दशा दिन प्रतिदिन शोचनीय होती गई।

इधर मराठा शक्ति बढती जाती थी। वे लोग मालवा, गुजरात और राजस्थान म जम से गए थे। चौथ आदि तो वसूल करते ही थे यहाँ की राजनीति और शासन मे भी हस्तक्षेप करते थे और पैसे के लोभ से कोई भी उचित अनुचित काय

में सहायता देने के लिए प्रस्तुत रहते थे। संगठन भी इनका मजबूत था। इसलिए धीरे धीरे दिल्ली और कलकत्ता तथा पेशावर तक ये लोग कूच करते थे। सिंधिया लोग इन्हीं के साथी और प्रधानस्थ थे। इन्होंने व्यवस्था विधान का ही काम किया। जनता इनके अत्याचारों से कराहने लगी थी और यह चाहती थी कि किसी भी तरह वर्तमान स्थिति का अन्त हो।

अंग्रेजों की विजय—इस समय तक मुगल साम्राज्य का विनाश हो गया किन्तु एक सुव्यवस्थित शासन का अभाव बना रहा। सम्पूर्ण देश में अराजकता व्याप्त हो गई। अठारहवीं शताब्दी तक अंग्रेज रीति और नीति से बम्बई मद्रास, कलकत्ता आदि स्थानों पर जम गए थे और १७६१ तक कुछ प्रान्तों पर भी हावी हो गए थे। वास्तव में ये व्यापार की दृष्टि से आए थे परन्तु इसकी पूर्ण स्थिति शासन व्यवस्था का संगठन होता है। जब यहाँ शासन का स्थान रिक्त दिखाई दिया तो इन्होंने पूरी ने अवसर का पूरा लाभ उठाया। पुर्तगाली डच फ्रांसीसी और अंग्रेज सभी लोग यहाँ आए हुए थे। परन्तु अंग्रेज जाति अधिक कुशल व्यापारी सफल शासन और व्यवहार पटु निकली। इन्होंने बंगाल मराठों का स्वाधा और टीपू सुल्तान को समाप्त कर दिया। १८०३ में दिल्ली का बादशाह भी इनके समर्थित हो गया। सन् १८१७–१८ में पिण्डारियों और ठगों का दमन किया। राजपूत नरेशों से इन्होंने सन्धियां कर लीं और मित्र बन गए और पंजाब को उनके पेंशन दान दिया। अब वे इन शासकों के परस्पर झगड़ों में मध्यस्थ और निर्णय करने लगे और व्यवस्था जमाने लगे। इनके शस्त्र और अनुशासन शक्ति उनकी सत्ता का मूल आधार थी। इन्हें केवल इन्हीं के साथ पराजित लोगों से कठिन मुकाबला करना पड़ा और उसमें भी अन्त में वे विजयी हुए। फ्रांसीसी और डच तथा पुर्तगाल के लोग इनके सामने नहीं टिक सके। धीरे धीरे अपना सत्ता और सम्पूर्ण भारत पर राज्य छा गया और इतने बड़े साम्राज्य की स्थापना हो गई जिसमें सूर्यास्त नहीं होता था। यह साम्राज्य १४ अगस्त सन् १९४७ तक भारतवर्ष में स्थापित रहा।

परिवर्तन के कारण—हमारे देश की पराधीनता के लिए अनेक कारणों का विवेचन किया जाता है। यह स्वाभाविक है कि पश्चिम के द्वारा पूर्व की यह विजय वास्तव में एक महत्वपूर्ण घटना थी और इसके लिए कुछ महत्वपूर्ण तत्वों का प्रभाव उत्तरदायी माना जाता है। सर्वप्रथम भारतवर्ष इतना विशाल और विस्तृत देश था किन्तु फिर भी यहाँ राष्ट्रभक्ति की भावना स्पष्ट रूप से विकसित नहीं था। इसलिए विभिन्न दल और शक्तियाँ केवल अपने ही स्वार्थों को लेकर आगे बढ़ने में प्रयत्नशील थे। इन्हें परस्पर अन्य समय अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम और उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा का उत्तरदायित्व मालूम नहीं था। इसलिए इन्हें परस्पर लड़ा देना बहुत सरल रहा और किसी और बाहर की कम्पनी की नीति किसी लोग यहाँ के सत्ताधीशों को लड़ाकर अपनी व्यवस्था स्थापित करने में सफल हो गए।

इस परिवर्तन के लिए दूसरा कारण यह था कि केन्द्र अत्यन्त दुर्बल हो गया था तथा हिन्दू और मुस्लिम जनता में एक दूसरे के प्रति सन्देह उत्पन्न हो गया था

कि वे परस्पर विश्वास कर ही नहीं सकते थे। औरंगजेब आदि मुगल सम्राटों ने भारत की एकता के लिए गहरी कब्र बना दी थी। इस स्थिति में विदेशी शक्ति एक निष्पक्ष मध्यस्थ की भाँति कार्य करने लगी और सरल, उदार हृदयी भारतवासी अपने संघर्षों का निर्णय उनकी सहायता द्वारा करने लगे। कूटनीति, व्यापार नीति तथा विदेशी सम्बन्धों का प्राचीन भारतीय ज्ञान इस समय तक लुप्त सा ही गया था। इसलिए यहाँ बसे हुए अंग्रेज विभिन्न प्रकार से भारतीय शासकों को चातुरीपूर्वक लड़ाकर अपना प्रभाव जमाने में पूर्ण सफल हुए।

व्यापारिक क्षेत्र में भारतवर्ष यद्यपि उन्नत और अग्रसर था, तो भी उसके साथ व्यापार पटुता और नीति का आदर्श उपस्थित नहीं था। इस युग में विदेशों में व्यापार महत्वपूर्ण समझा जाता था और राजा महाराजा तथा शासक वर्ग उसमें अपना पूरा पूरा सहयोग देते थे। किन्तु भारतवर्ष में व्यापार एक ही वर्ग वैश्य के लिए समझा जाता था और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय इसमें कोई सक्रिय सहयोग नहीं देते थे। इसलिए देश की राजनीति पर उसका प्रभाव उल्टा हुआ। अपने देश की व्यापार की रक्षा करना, विदेशी महत्वहीन वस्तुओं के आयात पर बन्धन लगाना आदि बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। फलस्वरूप, भारत का व्यापार, भारत का धन और अन्त में भारत का स्वत्व स्वतन्त्रता भी धीरे धीरे विदेशी हाथों में चली गई।

भारतीय नैतिकता भी इस परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है। विदेशियों के साथ अतिथि की भाँति सद्व्यवहार करना, उनके साथ व्यापार आदि सभी क्षेत्रों में सन्धियाँ करना और अपनी बात पर दृढ़ रहना भारतवासियों के जीवन का अभिन्न अंग था किन्तु इसके विपरीत विदेशियों के मन में कूटनीति छल, छद्म और कपट प्रधान रहता था। अवसर के अनुसार उनके सिद्धान्त बदलते थे और नैतिकता को वे महत्व नहीं देते थे इसलिए सन्धि की शर्तों का पालन केवल वे अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए करते थे। कोई बाधा आने पर पुनः सन्धियाँ नवीन रूप से तय की जाती थीं। श्री बर्क का कथन है कि भारतवर्ष में अंग्रेजों द्वारा की गई एक भी ऐसी सन्धि नहीं है जिसका उन्होंने पालन किया हो और बाद में उसे तोड़ा न हो परन्तु भारतवासी यह सब देखने में असफल रहे। इसके अतिरिक्त भारतीय वीरता और साहस के ऊँचे आदर्शों का भी प्रयोग विदेशियों ने अपने स्वार्थ पालन के लिए ही किया। वैसे विदेशी और भारतीय सेना के मध्य कोई भी ऐसा युद्ध नहीं हुआ जिसमें अपने श्रेष्ठ शस्त्रों के होते हुए भी वे भारतवासियों को पराजित कर सके हों किन्तु भारतीय दो दलों को लड़ाकर ही वे सदैव विजयी हुए हैं। यह सत्य स्वीकार करते हुए बड़ा दर्द होता है परन्तु वास्तविकता यही है कि भारत ने अपनी ही शक्ति से अपने आपको निर्बल बनाया और फिर विदेशियों का सहारा लेकर पराधीन हो गया। अपने शुद्ध बाहुबल के आधार पर अंग्रेज जाति भारत को अपने अधीन नहीं बना सकती थी।

भारतीय समाज का अधःपतन भी इस परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है। मुगलों के समय से ही चरित्रहीनता, विलासिता, भेदभाव जातीयता, भ्रष्टाचार और

में सहायता देने के लिए प्रस्तुत रहते थे। संगठन भी इनका मजबूत था। इसलिए धीरे धीरे दिल्ली और कलकत्ता तथा पेशावर तक ये लोग कूच करते थे। पिंडारी लोग इन्हीं के साथी और अधीनस्थ थे। इन्होंने व्यवस्था बिगाड़ने का ही काम किया। जनता इनके अत्याचारों से कराहने लगी थी और यह चाहती थी कि किसी भी तरह वर्तमान स्थिति का अन्त हो।

अंग्रेजों की विजय—इस समय तक मुगल साम्राज्य तो विलीन हो गया किंतु एक सुव्यवस्थित शासन का अभाव बना रहा। सम्पूर्ण देश में अराजकता व्याप्त हो गई। अठारहवीं शताब्दी तक अंग्रेज रीति और नीति से बम्बई, मद्रास कलकत्ता आदि स्थानों पर जम गए थे और १७६५ तक कुछ प्रान्तों पर तो हावी हो गए थे। वास्तव में ये व्यापार की दृष्टि से आए थे परन्तु इसकी पूर्व स्थिति शासन व्यवस्था का संगठन होता है। जब यहाँ शासक का स्थान रिक्त दिखाई दिया तो इन गोरे पुरुषों ने अवसर का पूरा लाभ उठाया। पुर्तगाली डच फ्रांसीसी और अंग्रेज सभी लोग यहाँ आए हुए थे। परन्तु अंग्रेज जाति अधिक कुशल व्यापारी सफल शासक और व्यवहार-चतुर निकली। उन्होंने पहले मराठों की शक्ति और टीपू सुल्तान को समाप्त कर दिया। १८०३ में दिल्ली का बादशाह भी उनके संरक्षण में हो गया। सन् १८१७-१८ में पिंडारियों और ठगों को कुचल दिया। राजपूत नरेशों से इन्होंने संधियाँ कर लीं और मित्र बन गए और पेशवा भी उनसे पेंशन पाने लगा। अब वे देशी शासकों के परस्पर संघर्षों में सहयोग और विरोध करने लगे और व्यवस्था जमाने लगे। उनके शस्त्र और जहाजी शक्ति उनकी सत्ता का मूल आधार थी। उन्हें केवल उन्हीं के साथी यूरोपियन लोगों से कठिन मुकाबला करना पड़ा और उसमें भी अन्त में वे विजयी हुए। फ्रांसीसी और डच तथा पुर्तगाल के लोग उनके सामने नहीं टिक सके। धीरे धीरे ब्रह्मा लंका और सम्पूर्ण भारत पर लाल रंग छा गया और इतने बड़े साम्राज्य की स्थापना हो गई जिसमें सूर्यास्त नहीं होता था। यह साम्राज्य १४ अगस्त सन् १९४७ तक भारतवर्ष में स्थापित रहा।

परिवर्तन के कारण—हमारे देश की पराधीनता के लिए अनेक कारणों का विवेचन किया जाता है। यह स्वाभाविक है कि पश्चिम के द्वारा पूर्व की यह विजय वास्तव में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी और इसके लिए कुछ महत्त्वपूर्ण तत्वों का प्रभाव उत्तरदायी माना जाता है। सर्वप्रथम, भारतवर्ष इतना विशाल और विस्तृत देश था किन्तु फिर भी यहाँ देशभक्ति की भावना स्पष्ट रूप से विकसित नहीं थी। इसलिए विभिन्न दल और शक्तियाँ केवल अपने ही स्वार्थों को लेकर आगे बढ़ने में प्रयत्नशील थे। इन्हें परस्पर लड़ते समय अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम और इसकी स्वतन्त्रता की रक्षा का उच्चादर्श सामने नहीं था। इसलिए इन्हें परस्पर लड़ाना बहुत सरल रहा और बिल्ली और बन्दर की कहानी की भाँति विदेशी लोग यहाँ के सत्ताधारियों को लड़ाकर अपनी व्यवस्था स्थापित करने में सफल हो गए।

इस परिवर्तन के लिए दूसरा कारण यह था कि केन्द्र अत्यन्त दुर्बल हो गया था तथा हिन्दू और मुस्लिम जनता में एक दूसरे के प्रति सन्देह इतना बढ़ गया था

कि वे परस्पर विश्वास कर ही नही सकते थे। औरंगजेब आदि मुगल सम्राटो ने भारत की एकता के लिए गहरी कब्र बना दी थी। इस स्थिति मे विदेशी शक्ति एक निष्पक्ष मध्यस्थ की भाँति काय करन लगी और सरल, उदार हृदयो भारतवासी अपने सघर्षों का निणय उनकी सहायता द्वारा करने लगे। कूटनीति, व्यापार नीति तथा विदेशी सम्बन्धो का प्राचीन भारतीय ज्ञान इस समय तक लुप्त सा हो गया था। इसलिए यहाँ बसे हुए अग्रज विभिन्न प्रकार से भारतीय शासको को चातुरीपूवक लुभाकर अपना प्रभाव जमान मे पूण सफल हुए।

व्यापारिक क्षत्र म भारतवप यद्यपि उन्नत और अग्रसर था, तो भी उसके साथ व्यापार पटुता और नोति का आदश उपस्थित नही था। इस युग म विदेशो मे व्यापार महत्वपूण समझा जाता था और राजा महाराजा तथा शासक वग उसमे अपना पूरा पूरा सहयोग देते थ। किन्तु भारतवप म व्यापार एक ही वग वश्य' के लिए समझा जाता था और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय इसम कोई सक्रिय सहयोग नही देते थ। इसलिए देश की राजनीति पर उसका प्रभाव उल्टा हुआ। अपने देश की व्यापार की रक्षा करना विदेशी महत्वहीन वस्तुओ के आयात पर बन्धन लगाना आदि बातों पर कोई ध्यान नही दिया गया। फलस्वरूप, भारत का व्यापार भारत का धन और अन्त म भारत का स्वत्व स्वतन्त्रता भी धीरे धीरे विदेशी हाथो म चली गई।

भारतीय नैतिकता भी इस परिवतन क लिए उत्तरदायी है। विदेशियो के साथ अतिथि की भाति सदव्यवहार करना, उनके साथ व्यापार आदि सभी क्षेत्रो मे सन्धियां करना और अपनी बात पर दढ रहना भारतवासियो क जीवन का अभिन्न अग था किन्तु इसके विपरीत विदेशियो के मन म कूटनीति, छल, छद्म और कपट प्रधान रहता था। अवसर के अनुसार उनके सिद्धान्त बदलते थे और नतिकता को वे महत्व नही देत थे इसलिए सन्धि की शर्तों का पालन केवल वे अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए करत थे। कोई बाधा आने पर पुन सन्धिया नवीन रूप से तय की जाती थीं। श्री बक का कथन है कि भारतवप म अग्रेजो द्वारा की गई एक भी ऐसी सन्धि नही है जिसका उन्होने पालन किया हो और बाद म उसे तोडा न हो परन्तु भारतवासी यह सब देखने म असफल रहे। इसके अतिरिक्त भारतीय वीरता और साहस के ऊँचे आदर्शों का भी प्रयोग विदेशियो ने अपने स्वाथ पालन के लिए ही किया। बस विदेशी और भारतीय सेना के मध्य कोई भी ऐसा युद्ध नही हुआ जिसम अपन अच्छ शस्त्रो के होते हुए भी वे भारतवासियो को पराजित कर सके हो, किन्तु भारतीय दो दलो को लडाकर ही वे सदव विजयी हुए हैं। यह सत्य स्वीकार करते हुए बडा दद होता है परन्तु वास्तविकता यही है कि भारत ने अपनी ही शक्ति से अपने आपको निबल बनाया और फिर विदेशियो का सहारा लकर पराधीन हो गया। अपने शुद्ध बाहुबल के आधार पर अग्रज जाति भारत को अपने अधीन नहीं बना सकती थी।

भारतीय समाज का अध पतन भी इस परिवतन के लिए उत्तरदायी है। मुगलो के समय स ही चरित्रहीनता विलासिता, मद्यपान, जातीयता, भ्रष्टाचार और

व्यभिचार का नंगा नाच होने लगा था और उच्च आदर्श लुप्त होने लगे थे। हम केवल समाज का ढांचा मुर्दा बना रहना असम्भव सा था और यही हुआ और फिर विदेशियों के सम्पर्क से तथा उनके प्रभाव से यहाँ हीनत्व की भावना का प्रसार हो गया। सत्ताधीशों की प्रत्येक चीज और आदर्श अच्छा और भारत की प्रत्येक चीज पिछड़ी हुई दिखाई देने लगी और सम्पूर्ण भारतीयता का पराभव सा हो गया। भारत की नैया डगमगाने लगी और स्वतन्त्रता लुप्त होने लगी। स्वतन्त्र विचार धारायें अवरुद्ध हो गई। पराधीनता का प्रवेश हुआ। संसार के घटनाचक्र से परिचय जाता रहा और विदेशी शक्ति के प्रभाव का ज्ञान भी नहीं रहा। अपना प्राचीन ज्ञान भी विस्मृत होने लगा और नया ज्ञान उपार्जित नहीं किया। इसके अतिरिक्त आर्थिक विपन्नता ने तो भारतीयता की रीढ़ की हड्डी ही तोड़ दी। देश में अनेक भारी कर लगाए किन्तु समृद्धि की सुरक्षा नहीं की। व्यापार बढ़ने लगा किन्तु आयात और निर्यात का सन्तुलन नहीं रहा। उद्योग धंधों की रक्षा नहीं कर सके। विदेशी व्यापार बढ़ने लगा और भारतीय व्यापार पिछड़ गया। नवीन विज्ञान का उपयोग करने हेतु मुद्रण तथा कागज के कारखाने यहाँ खुलने लगे किन्तु भारतवासियों ने इसमें कोई सक्रिय भाग नहीं लिया। इस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता के नष्ट होने और विदेशी शासन की स्थापना के उपरोक्त अनेक कारण थे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष इस समय धार्मिक, आर्थिक सामाजिक और नैतिक क्षेत्रों में अनुन्नत और व्यापारिक तथा कूटनीतिक क्षेत्रों में पिछड़ जाने के कारण ही अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सका। यहाँ की परम्परावादी मनोवृत्ति और इस युग की अत्यन्त महत्वपूर्ण राष्ट्रीयता की भावना का प्रारम्भ में नितान्त अभाव ही हमें पराधीनता के गर्त में उत्तरदायी रहे हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ मुगल साम्राज्य के ह्रास के क्या कारण थे? समझाकर लिखिए।
२ भारत में अंग्रेजों की विजय पर एक टिप्पणी लिखिए।
३ भारत में युग परिवर्तन के समस्त कारणों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
४ क्या यह सच है कि भारतीय उदारता और नैतिक आदर्श हमारी परतन्त्रता के लिए उत्तरदायी हैं? समझाकर लिखिए।

— o —

सतरहवाँ अध्याय

भारत में ब्रिटिश शासन

प्रस्तावना—अंग्रेजों का सम्पर्क भारतवर्ष के साथ सन् १६०० से आरम्भ हुआ और कई परिवर्तनों के साथ सन १९४७ तक गहरा सम्बन्ध रहा। इसके बाद भारतवर्ष स्वतन्त्र हो गया किन्तु राजनैतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध अब भी बने हुए हैं। यही कारण है कि राष्ट्र मण्डल (Common Wealth) की सदस्यता अभी तक चल रही है। इतने दीर्घ काल में ब्रिटिश शासन के कई रूप इस देश में प्रस्तुत हुए हैं। किन्तु प्रारम्भ से लेकर सन् १९३५ तक के शासन विधान का रूप एक प्रकार से विकास का क्रम ही समझा जाता है और अन्त में सन १९३५ के विधान के द्वारा ही सन् १९४७ तक प्रशासन चला है। इसके पश्चात् सत्ता हस्तांतरित हो गई। इसलिए आधारभूत ब्रिटिश शासन का वास्तविक स्वरूप वही है जो सन १९३५ के शासन विधान द्वारा प्रदान किया गया था। फिर भी सन १९३५ के विधान तक का क्रमिक विकास का ज्ञान अनिवार्य सा प्रतीत होता है। इसलिए संक्षेप में इसका अध्ययन करने के बाद ही वास्तविक ब्रिटिश शासन का अध्ययन आरम्भ करेंगे।

भारत का संवैधानिक विकास—ईस्ट इण्डिया कम्पनी का मुख्य उद्देश्य भारत में केवल एकमात्र व्यापार करना था और यही कार्य प्रारम्भ भी किया। किन्तु उस समय यहाँ पर मुगल सम्राट की शक्ति क्षीण हो रही थी और प्रान्तों में विभिन्न शासक वर्ग स्वतन्त्र होने जा रहे थे। इस स्थिति का लाभ उठाकर कम्पनी के कर्मचारियों ने शासन में हस्तक्षेप आरम्भ कर दिया। धीरे धीरे व्यापार भी बढ़ा और शासन करने की शक्ति भी हाथ आती गई। सन् १७५७ में प्लासी का युद्ध हुआ उसमें अंग्रेज विजयी हुए और फलतः व्यापार के एकाधिकारी से बन गए। सन् १७६५ में लार्ड क्लाइव ने बंगाल बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त की और उन प्रान्तों में सुरक्षा और भूमिकर की व्यवस्था कम्पनी ने स्वयं प्रारम्भ कर दी। इसी समय से उनका राजकाज में हस्तक्षेप आरम्भ हो गया और दिन प्रतिदिन बढ़ता गया और सन १८५७ तक देश के बहुत बड़े भाग का शासन कम्पनी के अधीन हो गया। इस बीच में सन १७७३ का रेग्यूलेटिंग एक्ट सन् १७८४ का पिट्स इण्डिया बिल आदि ब्रिटिश संसद ने पास किए थे। इनका उद्देश्य यही था कि भारत में अच्छी व्यवस्था हो और कम्पनी अपना कार्य सुचारु रूप से करे। नियन्त्रण सभा और गुप्त समितियों का संगठन भी इसी दृष्टि से किया गया था। गवर्नर जनरल के अधिकारों में वृद्धि हुई और शासन धीरे धीरे केन्द्रित कर दिया गया। इसके पश्चात् १८१३ और १८३२ में फिर नए कानून पास किए और कम्पनी का कार्य केवल राजशासन को सम्भालना ही रह गया।

सन् १८५८ ई० में, जब ब्रिटिश सरकार ने भारत का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम (१८५७) शान्त कर दिया तब यहाँ का शासन ब्रिटिश सम्राट के अधीन हो गया। महारानी विक्टोरिया ने घोषणा की कि अब राजकीय पदों के लिए केवल योग्यता के आधार पर नियुक्तियाँ होंगी। धर्म, जाति, वर्ण के आधार पर नहीं और सरकार धर्म मत आदि विषयों में भी हस्तक्षेप नहीं करेगी। अब भारत का सम्पूर्ण शासन भारत मन्त्री को सौंप दिया गया। उसकी सहायता के लिए १५ सदस्यों की कौंसिल बनाई जो केवल परामर्श देती थी और इस परामर्श को स्वीकार करना भारत मन्त्री की इच्छा पर निर्भर करता था। भारत का गवर्नर जनरल पूर्णरूपेण भारतमन्त्री के आधीन हो गया। इसके बाद सन् १८६१ के नए नियम द्वारा भारतवासियों को भी शासन व्यवस्था में स्थान दिया गया और १८९२ के नए विधान द्वारा इन भारतीयों की संख्या बढ़ा दी गई। इस समय देश में नवचेतना फैल गई थी। राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हो चुका था। इसलिए जनता को सन्तुष्ट करने के लिए अधिक अच्छे अधिनियमों की आवश्यकता थी। इस समस्या का हल करने के लिए भारत मन्त्री श्री मोर्ले और गवर्नर जनरल श्री मिन्टो की मन्त्रणा के आधार पर मिन्टो मार्ले अधिनियम पारित किया गया और जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई किन्तु साम्प्रदायिक निर्वाचन का सिद्धान्त भी मान लिया गया। इसलिए इन सुधारों से जनता सन्तुष्ट नहीं हुई। १९१४ में प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया।

प्रथम विश्व युद्ध के समय भारतवासियों ने अंग्रेजों की बहुत सहायता की इसलिए २० अगस्त सन् १९१७ में भारतमन्त्री श्री माण्टेग्यू ने इङ्गलैंड की लोकसभा में घोषणा की कि अब युद्धोपरान्त भारत में यहीं के निवासियों को शासन में अधिक हिस्सा दिया जाय और स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं की स्थापना भी की जाय जिससे उत्तरदायी शासन स्थापित करने में सुविधा रहे। तत्पश्चात् सन् १९१९ में माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों के आधार पर नवीन अधिनियम पारित हुआ जिसमें निम्नलिखित विशेषतायें थीं —

(१) धारा सभाओं में जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई और मनोनीत सदस्यों की संख्या में अधिक कर दी गई।

( ) मतदाताओं की योग्यतायें उदारतापूर्वक कम कर दी गई ताकि अधिक लोग मताधिकार का प्रयोग कर सकें।

(३) धारा सभा के अधिकारों में वृद्धि हो गई। अब वे प्रशासन सम्बन्धी प्रश्न पूछने की अधिकारिणी बन गई और आय-व्यय ब्यौरे पर भी विचार करने का अधिकार प्राप्त हो गया।

(४) प्रान्तों में दोहरा शासन (Dyarchy) अर्थात् द्वैध शासन प्रणाली आरम्भ हो गई। प्रान्त के विषयों को दो भागों में विभाजित किया गया। एक भाग जनता के प्रतिनिधि मन्त्रियों को सौंप दिया गया। ये विषय हस्तान्तरित विषय कहलाए और इनके प्रशासन का उत्तरदायित्व मन्त्रिमण्डल पर रहा। दूसरा भाग सुरक्षित विषय कहलाया और यह गवर्नर की कार्यकारिणी समिति के सदस्यों को सौंप दिया

गया। ये लोग अपने कार्यों के लिए केवल गवनर के प्रति उत्तरदायी रहे।

(५) केन्द्रीय सरकार की व्यवस्था ज्यो की त्यो चलती रही।

(६) गृह सरकार (इङ्गलैंड) मे भारतीय परिषद् (India Council) के सदस्यो की सख्या आठ से बारह कर दी गई और इनम से आधे सदस्यों का ऐसा होना अनिवार्य कर दिया जो कम से कम दस वष तक भारतवष म रहे हो।

(७) भारतमत्री का वेतन भारत के कोष के बजाय इङ्गलैंड के कोष से दिया जाने लगा।

इन विशेषताओ के होते हुये भी भारतवासियो को यह विधान पसन्द नहीं आया। विशेषकर द्वैध शासन प्रणाली को भयकर माना गया और इसकी इतनी आलोचना हुई कि आज तक भी यह एक कहावत के रूप मे चला आ रहा है। वास्तव म यह सिद्धान्त दोषपूण ही है। श्री चिन्तामणि आदि ने अपने अनुभव के आधार पर यह सिद्ध किया है कि यह प्रणाली शासन को असफल बनाने की अत्यन्त सरल प्रणाली है। इसलिए कांग्रेस और दूसरे राजनीतिज्ञो को सन्तोष नहीं हुआ और सघष बराबर चलता रहा। आतकवाद और दमन, असहयोग और कारावास, गोलमेज सम्मेलन और उनकी सफलता असफलताओं के कण्टकाकीण माग म होकर देश गुजरता रहा और अन्त म सन १६३५ म नवीन भारतीय विधान पारित हुआ जिसके द्वारा भारत के स्वतन्त्र होने तक शासन चलता रहा।

सन १६३५ का भारतीय अधिनियम—यह २ अगस्त सन् १६३५ को स्वीकृत हुआ था। यह ब्रिटिश सरकार द्वारा पारित सबसे बडा और उलझनदार अधिनियम था। इसकी प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित थी —

(१) इस अधिनियम के द्वारा एक अखिल भारतीय सघ की स्थापना के लिये व्यवस्था की गई थी। यद्यपि समस्त भारतवष एक ही देश था किन्तु नए प्रस्तावित सघ मे सम्मिलित होने वाली इकाईयाँ एक सी नही थी। कुछ ब्रिटिश प्रान्त थे और कुछ देशी राज्य। साथ ही प्रान्तो का सघ मे सम्मिलित होना अनिवाय था और देशी राज्यों का सम्मिलित होना उनके शासको की इच्छाओ पर आधारित था। इसी प्रकार प्रान्तो का समस्त शासन के लिये सघ मे आना अनिवाय था और देशी राज्यो के लिये यदि आना भी चाहें तो केवल उन्हीं विषयो के सम्बन्ध में जिन्हें उनके शासक स्वय सौंपना पसन्द करें और अन्त मे सघ की स्थापना के लिये यह शत थी कि सघ उस समय स्थापित होगा जब कि ऐसी सख्या के देशी राज्य सघ म सम्मिलित होने को तयार हो जिनकी जनसख्या समस्त देशी राज्यों की जन-सख्या की कम से कम आधी हो। इस प्रकार इसे उलझनदार अधिनियम कहा जाना उचित ही था।

(२) सघ की व्यवस्थापिका सभाओं मे निम्न सदन मे देशी राज्यों को १२५ और प्रान्तो को २५० तथा राज्य-परिषद् मे देशी राज्यो को १०४ और प्रान्तो को १५६ सदस्य भेजने का अधिकार दिया गया था। यहाँ भी देशी राज्यों के प्रति-निधि शासको द्वारा मनोनीत होने को थे और प्रान्तो के प्रतिनिधि जनता द्वारा

सन् १८५८ ई० में जब ब्रिटिश सरकार ने भारत का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम (१८५७) शान्त कर दिया तब यहाँ का शासन ब्रिटिश सम्राट के अधीन हो गया। महारानी विक्टोरिया ने घोषणा की कि अब राजकीय पदों के लिए केवल योग्यता के आधार पर नियुक्तियाँ होंगी। धर्म, जाति वंश के आधार पर नहीं और सरकार धर्म मत आदि विषयों में भी हस्तक्षेप नहीं करेगी। अब भारत का सम्पूर्ण शासन भारत मंत्री को सौंप दिया गया। इसकी सहायता के लिए १५ सदस्यों की कौंसिल बनाई जो केवल परामर्श देती थी और इस परामर्श को स्वीकार करना भारत मंत्री की इच्छा पर निर्भर करता था। भारत का गवर्नर जनरल पूर्णरूपेण भारतमंत्री के आधीन हो गया। इसके बाद सन् १८६१ के नए नियम द्वारा भारतवासियों को भी शासन व्यवस्था में स्थान दिया गया और १८९२ के नए विधान द्वारा इन भारतीयों की संख्या बढ़ा दी गई। इस समय देश में नवजागृति फैल गई थी। राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हो चुका था। इसलिए जनता को सन्तुष्ट करने के लिए अधिक अच्छे अधिनियमों की आवश्यकता थी। इस समस्या को हल करने के लिए भारत मंत्री श्री मोर्ले और गवर्नर जनरल श्री मिंटो की मन्त्रणा के आधार पर मिन्टो मार्ले अधिनियम पारित किया गया और जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई किन्तु साम्प्रदायिक निर्वाचन का सिद्धान्त भी मान लिया गया। इसलिए इन सुधारों से जनता सन्तुष्ट नहीं हुई। १९१४ में प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया।

प्रथम विश्व युद्ध के समय भारतवासियों ने अंग्रेजों की बहुत सहायता की इसलिए २० अगस्त सन् १९१७ में भारतमंत्री श्री माँटेग्यू ने इंग्लैंड की लोकसभा में घोषणा की कि युद्धोपरान्त भारत में वहाँ के निवासियों को शासन में अधिक हिस्सा दिया जाए और स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं की स्थापना भी की जाय जिससे उत्तरदायी शासन स्थापित करने में सुविधा रहे। तत्पश्चात् सन् १९१९ में माँटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों के आधार पर नवीन अधिनियम पारित हुआ जिसमें निम्नलिखित विशेषताएँ थीं —

(१) धारा सभाओं में जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई और मनोनीत सदस्यों की संख्या से अधिक कर दी गई।

( ) मतदाताओं की योग्यतायें उदारतापूर्वक कम कर दी गईं ताकि अधिक लोग मताधिकार का प्रयोग कर सकें।

( ) धारा सभाओं के अधिकारों में वृद्धि की गई। अब वे प्रशासन सम्बन्धी प्रश्न पूछने की अधिकारिणी बन गईं और आय-व्यय ब्यौरे पर भी विचार करने का अधिकार प्राप्त हो गया।

(४) प्रान्तों में दोहरा शासन (Dyarchy) अर्थात् द्वैध शासन प्रणाली आरम्भ हो गई। प्रान्त के विषयों को दो भागों में विभाजित किया गया। एक भाग जनता के प्रतिनिधि मन्त्रियों को सौंप दिया गया। ये विषय हस्तान्तरित विषय कहलाए और इनके प्रशासन का उत्तरदायित्व मन्त्रिमण्डल पर रहा। दूसरा भाग सुरक्षित विषय कहलाया और यह गवर्नर की कार्यकारिणी समिति के सदस्यों को सौंप दिया

गया। ये लोग अपने कार्यों के लिए केवल गवर्नर के प्रति उत्तरदायी रहे।

(५) केन्द्रीय सरकार की व्यवस्था ज्यों की त्यों चलती रही।

(६) गृह सरकार (इङ्गलैंड) मे भारतीय परिषद् (India Council) के सदस्यों की संख्या आठ से बारह कर दी गई और इनमें से आधे सदस्यों का ऐसा होना अनिवार्य कर दिया जो कम से कम दस वर्ष तक भारतवर्ष में रहे हो।

(७) भारतमंत्री का वेतन भारत के कोष के बजाय इङ्गलैंड के कोष से दिया जाने लगा।

इन विशेषताओं के होते हुये भी भारतवासियों को यह विधान पसन्द नहीं आया। विशेषकर इस शासन प्रणाली को भयंकर माना गया और इसकी इतनी आलोचना हुई कि आज तक भी यह एक कहावत के रूप में चला आ रहा है। वास्तव में यह सिद्धान्त दोषपूर्ण ही है। श्री चिन्तामणि आदि ने अपने अनुभव के आधार पर यह सिद्ध किया है कि यह प्रणाली शासन को असफल बनाने की अत्यन्त सरल प्रणाली है। इसलिए कांग्रेस और दूसरे राजनीतिज्ञों को सन्तोष नहीं हुआ और संघर्ष बराबर चलता रहा। आतंकवाद और दमन, असहयोग और कारावास, गोलमेज सम्मेलन और उनकी सफलता असफलताओं के कष्टकाकीर्ण मार्ग में होकर देश गुजरता रहा और अन्त में सन् १९३५ में नवीन भारतीय विधान पारित हुआ जिसके द्वारा भारत के स्वतन्त्र होने तक शासन चलता रहा।

सन १९३५ का भारतीय अधिनियम—यह २ अगस्त सन १९३५ को स्वीकृत हुआ था। यह ब्रिटिश सरकार द्वारा पारित सबसे बड़ा और उलझनदार अधिनियम था। इसकी प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित थीं :—

(१) इस अधिनियम के द्वारा एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना के लिए व्यवस्था की गई थी। यद्यपि समस्त भारतवर्ष एक ही देश था किन्तु नए प्रस्तावित संघ में सम्मिलित होने वाली इकाईयाँ एक सी नहीं थीं। कुछ ब्रिटिश प्रान्त थे और कुछ देशी राज्य। साथ ही प्रान्तों का संघ में सम्मिलित होना अनिवार्य था और देशी राज्यों का सम्मिलित होना उनके शासकों की इच्छाओं पर आधारित था। इसी प्रकार प्रांतों का समस्त शासन के लिये संघ में आना अनिवार्य था और देशी राज्यों के लिये यदि आना भी चाहें तो केवल उन्हीं विषयों के सम्बन्ध में जिन्हें उनके शासक स्वयं सौंपना पसन्द करें और अन्त में संघ की स्थापना के लिये यह शर्त थी कि संघ उस समय स्थापित होगा जब कि ऐसी संख्या के देशी राज्य संघ में सम्मिलित होने को तैयार हो जिनकी जनसंख्या समस्त देशी राज्यों की जनसंख्या की कम से कम आधी हो। इस प्रकार इसे उलझनदार अधिनियम कहा जाना उचित ही था।

(२) संघ की व्यवस्थापिका सभाओं में निम्न सदन में देशी राज्यों को १२५ और प्रांतों को २५० तथा राज्य-परिषद् में देशी राज्यों को १०४ और प्रांतों को १५६ सदस्य भेजने का अधिकार दिया गया था। यहाँ भी देशी राज्यों के प्रतिनिधि शासकों द्वारा मनोनीत होने को थे और प्रांतों के प्रतिनिधि जनता द्वारा

निर्वाचित होने चाहियें थे।

(३) इस संघ के अधिकारों का वर्गीकरण भी विशेष पद्धति से ही हुआ था। अधिकारों की तीन सूचियाँ बनाई गई थीं, संघीय सूची, प्रांतीय सूची और संयुक्त सूची, तथा गवर्नर जनरल का यह विशेष अधिकार था कि वह यह निश्चय कर सके कि कौन सा विषय किस सूची में सम्मिलित किया जाय।

(४) सन् १९३५ के अधिनियम द्वारा केन्द्र में द्वैध शासन की व्यवस्था की गई थी। कुछ विषय गवर्नर जनरल के अधीन रहे जिनका प्रशासन वह तीन परामर्शदाताओं की सहायता से करता था और ये विषय सुरक्षा, विदेशी सम्बन्ध, पादरियों के मामले और कबायली क्षेत्रों की व्यवस्था चार हो गये। अन्य विषयों की व्यवस्था के लिये मंत्रिमण्डल की स्थापना की गई थी। ये मंत्रीगण दस से अधिक नहीं होने चाहियें थे और मंत्रिमण्डल पद्धति के आधार पर संगठित होने की व्यवस्था थी और इसलिये धारा सभा के प्रति उत्तरदायी रहना भी आवश्यक था। प्रोफेसर के० टी० शाह के मतानुसार 'नए संविधान के अन्तर्गत संघीय मंत्रिमण्डल की स्थिति व्यावहारिक है जिसका कोई उपयोग नहीं है जो प्रतिनिधि चुने जाने वाली जनता के लिये कभी सहायक नहीं, यह ऐसा उत्तरदायित्व है जो बिना अधिकार के है, यह ऐसी पदवी है जिसका कुछ भी सामर्थ्य नहीं, यह ऐसा नाम है, जिसका वास्तविक प्रभाव नहीं।' (फिडरल स्ट्रक्चर–पृष्ठ २२३)।

(५) भारतीय व्यवस्थापिकाओं के अधिकार अत्यन्त सीमित थे। कुछ विषयों पर तो उन्हें विचार करने का भी अधिकार नहीं था, कुछ पर गवर्नर जनरल की अनुमति से विचार कर सकती थी और अन्त में उनके द्वारा स्वीकृत कोई भी प्रस्ताव किसी भी स्तर पर रोका भी जा सकता था। इस प्रकार नियम निर्माण का अधिकार नाम मात्र का सा प्रतीत हुआ।

(६) बजट के सम्बन्ध में ८०% पर उन्हें मत प्रकट करने का अधिकार नहीं था और शेष भाग पर भी उनके विचारों पर गवर्नर जनरल के विशेषाधिकार व्याप्त हो सकते थे।

(७) एक संघीय न्यायालय की स्थापना का विधान था जिसका अधिकार क्षेत्र सम्पूर्ण भारतवर्ष में व्याप्त था। उसमें एक मुख्य न्यायाधीश तथा दो अवर न्यायाधीशों की व्यवस्था थी और न्यायालय को मौलिक एवं अपील सम्बन्धी दोनों प्रकार के अधिकार प्राप्त थे।

(८) इङ्गलैंड स्थित भारतमंत्री की भारतीय कौंसिल को समाप्त कर दिया गया और कुछ परामर्शदाता नियुक्त कर दिये गये।

(९) प्रान्तों में गवर्नर और केन्द्र में गवर्नर जनरल को व्यक्तिगत निर्णय के अधिकार और विशेषाधिकारों के रूप में सर्वाधिक अधिकार दे दिये गये और उन्हें कुछ विशेष संरक्षण (special responsibilities) का कार्य सौंप कर और भी अधिक शक्तिशाली बना दिया गया।

(१०) इसका संशोधन केवल ब्रिटिश सरकार ही कर सकती थी।

(११) इस अधिनियम की सबसे अच्छी विशेषता थी 'प्रातीय स्वराज्य' की स्वीकृति। इस व्यवस्था द्वारा प्रातो म पूर्ण उत्तरदायित्व वाली सरकार की स्थापना हुई।

अब हम इसके पश्चात जो वास्तविक व्यवस्था इस अधिनियम के अनुसार हुई उसका विस्तत वणन करेंगे।

गृह सरकार—भारतवष के शासन से सम्बंधित जो सगठन इङ्गलैंड मे स्थित था उसे गृह सरकार की सज्ञा दी गई थी इसकी स्थापना सन् १८५८ के एक्ट द्वारा कर दी गई थी और बाद के अनेक अधिनियमो द्वारा इसम परिवतन भी होते गये। सन ३५ के एक्ट द्वारा पुन पर्याप्त परिवतन किया गया। इसके द्वारा प्रान्तों मे स्वराज्य स्थापित किया गया था इसलिए यहाँ के लोकप्रिय मन्त्रियो को पर्याप्त अधिकार प्राप्त हो गये थे। इसलिये प्रातीय शासन पर भारत मन्त्री (Secretary of State for India) का नियन्त्रण कम हो गया। इसी प्रकार केन्द्र म भी जो अधिकार मन्त्रियो को मिले, उन पर से भारतमन्त्री का नियन्त्रण कम हो गया। इसी प्रकार से गवनर और गवनर जनरल के भी विशेषाधिकार आदि क क्षेत्र से उसका प्रभाव कम हो गया फिर भी कुछ अधिकार बराबर बने रह। सेवाओ की नियुक्तिया, गवनर तथा गवनर जनरल को भेजे जाने वाले निर्देशपत्र आदि द्वारा वह अपने अधिकारो का उपयोग करता था।

परामशदाता—पहले से चली आयी भारतीय कौंसिल क स्थान पर तीन स छ तक परामशदाता नियुक्त करने का अधिकार मिला था। ये पाच वष के लिय नियुक्त होते थे। इनके लिये भारतवष का १० वष के निवास का अनुभव अनिवाय था। वे अपना परामश पूछने पर देते थे। व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से परामश लिया जा सकता था और परामश को मानना भी भारतमन्त्री की स्वेच्छा पर अवलम्बित था।

भारतीय हाई कमिश्नर—सन १९१९ के अधिनियम द्वारा इस पद का सजन हुआ था। इसकी नियुक्ति भारत का कौंसिल स्थित गवनर जनरल करता था। वही इसे हटा भी सकता था इसका कायकाल भी पाँच वष होता था। वेतन भारतीय कोष से ३००० पौंड मिलता था। उसके काय थे, इगलैंड म गवनर जनरल के प्रतिनिधि के रूप म काय करना, स्टोर विभाग का काय करना भारतीय विद्यार्थियों की देख रेख करना और अन्य कोई काय जो भारत के हित मे उसके सुपुर्द किया जाय।

सघीय सरकार—इस अधिनियम के द्वारा जो सघीय सरकार की योजना थी गवनर जनरल उसम केन्द्र बिन्दु था। उसकी नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाती थी। वह मन्त्रिमण्डल क परामश पर अपने व्यक्तिगत विवेक के अनुसार और स्वेच्छापूवक विशेष अधिकारो के अनुसार, तीन प्रकार से अपना काय करता था। इनके क्षेत्र भी भिन्न २ थे। मन्त्रिमण्डल क अधिकार क्षेत्र म उनके परामश पर, उसके विशेष उत्तरदायित्वो के क्षेत्र म उनसे अनिवाय रूप से परामश करके स्वय के निणय द्वारा और महत्वपूण विषयो पर स्वेच्छापूवक अधिकारो का प्रयोग करता था। प्रातों

और रियासतों का क्षेत्र भी उसी के अंतर्गत था। इनका प्रशासन वह अनुदेश पत्र प्रसारित करते हुये करता था। नियम निर्माण के क्षेत्र में वह बहुत शक्तिशाली था। कई नियमों के प्रस्ताव उसकी पूर्व स्वीकृति बिना नहीं हो सकते थे। अन्य प्रस्तावित नियमों को वह किसी भी स्तर पर रोक सकता था। पारित नियम को पुनः विचार के लिये भेज सकता था और रोक भी सकता था। बजट के सम्बन्ध में भी उसके विस्तृत अधिकार थे। आवश्यकता के समय वह स्वयं नियम बना सकता था। न्याय के क्षेत्र में भी उसे पर्याप्त शक्तियाँ थीं जिनके द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ, क्षेत्राधिकार की सीमा परिवर्तन आदि कर सकता था।

शासक परिषद—गवर्नर जनरल की सहायता के लिये एक ७ सदस्यों की शासक परिषद थी जिसमें सेनापति, गृह-सदस्य, वित्त सदस्य आदि सम्मिलित थे। ये सदस्य भारत मंत्री के परामर्श से सम्राट द्वारा नियुक्त होते थे। इनकी अवधि पाँच साल की थी। वेतन ८० हजार वार्षिक था। इनकी योग्यतायें भी भिन्न भिन्न अनिवार्य रक्खी गई थीं। गवर्नर जनरल इसका अध्यक्ष होता था और उन सदस्यों में से एक को उपाध्यक्ष नियुक्त करता था। इस परिषद की कार्यवाही गुप्त होती थी। मतभेद के लिये बहुमत से निर्णय होता था। बाद में २१ जुलाई सन् १९४१ को ३० सदस्यों की एक राष्ट्रीय प्रतिरक्षा परिषद (National Defence Council) भी बनाई गई थी। यह सिर्फ परामर्शदात्री संस्था थी। इसी प्रकार मंत्रिमण्डल की स्थापना भी गवर्नर जनरल की सहायता के लिये ही की जाती थी। संघीय विधान मण्डल, उसका निर्माण, संगठन और अधिकार भी व्यापक थे। इस प्रकार प्रारम्भ से संगठित और नियमानुसार संघीय सरकार की स्थापना की गई थी, किन्तु वास्तव में यह सब ऊपरी दिखावा मात्र था। मंत्रिमण्डल और विधान मण्डल को कोई भी वास्तविक अधिकार या सम्मान नहीं था। हर क्षेत्र में प्रत्येक चरण पर गवर्नर जनरल हस्तक्षेप करने का अधिकारी था। इसीलिये मंत्रिमण्डल और विधान सभा के अधिकार और मर्यादाओं का विस्तार से वर्णन करना उपयोगी प्रतीत नहीं होता।

प्रांतीय सरकार—प्रांतों में यद्यपि स्वराज्य की स्थापना हुई थी किन्तु वहाँ की गवर्नरों की स्थिति ठीक केन्द्र में गवर्नर जनरल की स्थिति के समान थी। केवल यह भेद था कि केन्द्र में शासक परिषद अलग होती थी प्रांत में यह नहीं था। प्रांतों में गवर्नर की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी और उसके अधिकार उसी प्रकार व्यक्तिगत निर्णय के अधिकार, विशेषाधिकार और सामान्य अधिकार होते थे। नियम निर्माण के क्षेत्र में, प्रशासन में, न्याय क्षेत्र में, वित्तीय सीमा में गवर्नर जनरल की भाँति ही वे प्रांतों में शक्तिशाली थे। वे मंत्रियों को नियुक्त तथा पदच्युत कर सकते थे। अध्यादेश प्रसारित कर सकते थे। लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति करते थे और आवश्यकता के समय संविधान को स्थगित कर सकते थे। उपरोक्त प्राविधान यह सिद्ध करते हैं कि मंत्रियों के अधिकार सीमित थे। प्रांतीय विधान मण्डलों का संगठन भी किया गया था। ६ प्रान्तों में दो सदनीय और पाँच

प्रान्तो मे एक सदनीय विधान मण्डल था। उनकी शक्तियाँ भी वास्तविक रूप मे नही के समान थी। औपचारिक रूप म सभी क्षेत्रो मे पर्याप्त अधिकार दिये गये थ, किन्तु गवनर की इच्छा के विपरीत या उनके शासन मे हस्तक्षेप की दृष्टि से कोई परिवतन नही किया जा सकता था। फिर भी यह स्वीकार करना पडेगा कि प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना द्वारा, चाहे नाटक के रूप म ही सही भारतवासियो को शासन करने के अनुभव का अवसर मिला।

न्याय व्यवस्था—सन् १९३५ तक प्रान्तो मे हाईकोर्ट तक की स्थापना की हुई थी। नए अधिनियम के द्वारा सघीय न्यायालय की स्थापना भी की गई। इसके ऊपर इगलड की 'प्रिवी कौंसिल' थी जो अपीलें सुनती थी। इन न्यायालयों का सगठन निम्न प्रकार से शृखलाबद्ध था —

प्रिवी कौंसिल (इगलड)

सघीय न्यायालय (भारत मे सर्वोच्च न्यायालय)
स्थान—देहली

प्रान्तीय उच्च न्यायालय

राजस्व मण्डल (Revenue Board)
१ कमिश्नर (आयुक्त)
२ कलक्टर (जिलाधीश)
३ तहसीलदार

दीवानी शाखा
१ जिला जज का न्यायालय
२ सिविल जज का न्यायालय
३ मुसिफ का न्यायालय
४ खफीफा न्यायालय (Small cause court)

फौजदारी शाखा
१ सेशन्स जज का न्यायालय
२ प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट का न्यायालय
३ द्वितीय श्रेणी मजिस्ट्रेट न्यायालय
४ ततीय श्रेणी मजिस्ट्रेट का न्यायालय

यह न्याय व्यवस्था अच्छे ढग से की गई थी। यद्यपि सघ के सिद्धान्तो के अनुसार ही सघीय न्यायालय की स्थापना की गई थी किन्तु फिर उसकी अपील के लिए 'प्रिवी कौंसिल' मे जाने का जो माग खुला रक्खा वह सिद्धात के विरुद्ध भी था।

स्वायत्त शासन व्यवस्था—सन् १८८२ मे लाड रिपन ने इन सस्थाओ की स्थापना की थी और उनकी शक्तियाँ भी पर्याप्त थी किन्तु उस समय प्रत्येक जिले का जिलाधीश ही इन सस्थाओ का सभापति होता था। सन १९१९ के अधिनियम द्वारा इस स्वशासन को और अधिक प्रोत्साहन मिला था और इन पर लगे हुए प्रतिबन्ध कम कर दिये गए थे तथा इनकी सीमाओ में अधिक स्वतत्रता दी गई थी। सन १९३५ के विधान द्वारा इन सस्थाओ को और अधिक काय क्षेत्र मिला। इस

विधान के बाद प्रांत में एक स्वायत्त शासन मंत्री का पद बन गया पंचायतें और नगरपालिकाएँ प्रांतीय विषय बन गई। कई प्रांतों ने अपने पंचायत नियम पास किये और तदनुसार प्रत्येक ग्राम में ग्राम पंचायतों की स्थापना की गई। ये पंचायतें ग्राम की पर्याप्त व्यवस्था करने लगी और स्वायत्त शासन का पर्याप्त विकास हुआ।

उपसंहार—उपरोक्त वर्णन के पश्चात् ब्रिटिश शासन के प्रति हम यह कह सकते हैं कि तत्कालीन ब्रिटिश प्रशासन सगठित और व्यवस्थित था। सम्पूर्ण देश में विदेशियों की दृष्टि में जो न्याय था उसकी अच्छी व्यवस्था थी। विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित और आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त रूप में विकसित था। आवागमन के साधनों का बहुत विकास हुआ। पाश्चात्य शिक्षा द्वारा साहित्य और ज्ञान का अच्छा प्रचार हुआ और समाज के विभिन्न वर्गों में सम्पर्क बढ़ाने का अवसर भी मिला। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय सगठन में भी भारत का स्थान दिलवाया था। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए कि आधुनिक भारतवर्ष की वर्तमान शासन प्रणाली की वास्तविक आधारशिला प्राचीन ब्रिटिश शासन का सगठन ही है और स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये भी हम ब्रिटिश परम्पराओं और उनकी उदारता के प्रति आभारी हैं।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१ ब्रिटिश शासन पद्धति की मुख्य मुख्य विशेषताएँ बताइये।

२ ब्रिटिश युग की न्याय व्यवस्था और स्वायत्त शासन पर विस्तृत टिप्पणियाँ लिखिए।

३ स्थानीय शासन का संक्षिप्त विकास लिखिए।

— o —

अठारहवा अध्याय

सामाजिक एव धार्मिक आन्दोलन

प्रस्तावना—मुगल साम्राज्य के पतन के बाद पहले मराठो का बल बढने लगा किन्तु बाद म युक्ति और शक्ति द्वारा अग्रजो ने भारतवष पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। इस समय भारतीय समाज म धम का वास्तविक रूप धुँधला हो रहा था और सम्प्रदाय आदि के नाम पर चलने वाल आडम्बर अन्धविश्वास और कुरीतियाँ प्रधान बन गई थी। जातिवाद के कारण समाज म ऊच नीच का भद बहुत अधिक हो गया था। ऐसे अवसर पर ईसाइयत का बढता हुआ प्रभाव और शिक्षा द्वारा पश्चिमी सभ्यता म बढन वाल नवयुवको की स्वच्छन्द वृत्तिया के कारण हिन्दू समाज शोचनीय स्थिति म आ गया था। ईसाई मिशनरियो ने अपने धम का प्रचार प्रारम्भ कर दिया और नीच जाति क समझे जाने वाले हिन्दुओ को गले लगाकर ईसाई बनाना आरम्भ कर दिया। उनकी एक बन्धुत्व की भावना के कारण अनिक्षित लोग प्रभावित भी होने लगे। यद्यपि यह भी सच है कि विदेशियो क अध्ययन द्वारा भारतीय धम और सस्कृति के उज्ज्वल रूप का भी विश्वास भारतवासियो को हो रहा था तथापि भारतवासियो म यह साहस नही हो रहा था कि भारतीय जनता के सम्मुख भारतीय धम और सस्कृति का स्वास्थ्य और शुद्ध रूप उपस्थित करे और अनावश्यक कुरीतियों और रूढियो के निवारण का यत्न कर। ऐसी स्थिति मे भारतीय विचारको ने अपने समाज और धम की रक्षा के लिए आन्दोलन आरम्भ किये। इन सभी आन्दोलनो का उद्देश्य हिन्दू समाज म प्रचलित बुराइयो को दूर करना और प्राचीन धम ग्रन्थ वद, उपनिषद आदि से प्रेरणा लेकर धम के शुद्ध रूप की स्थापना करना था। बाद म इन्ही आन्दोलनो ने अप्रत्यक्ष रूप से यहा की राजनतिक प्रगति म भी योग दिया।

ब्रह्म समाज

सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनो का श्रीगणेश सवप्रथम राजा राममोहन राय ने किया। इनका जन्म २२ मई सन् १७७२ ई० को बगाल के बदवान जिले क राधानगर ग्राम म हुआ था। ये सस्कृत, फारसी अरबी लैटिन और इब्रानी भाषाओ के अच्छे विद्वान थे, इनकी विवेक शक्ति बडी तीव्र थी। इनके जीवन का उद्देश्य भारतीय धम और सभ्यता की सकलित मनोवृत्ति, आडम्बर और अन्धविश्वास के घातक प्रभाव से तथा ईसाई धम और सभ्यता के आक्रमण से रक्षा करना था। इसी दृष्टि से सवप्रथम उन्होंने विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया और सब धर्मों के तथ्य को जान लिया। वद और उपनिषदो के ज्ञान से उन्ह यह प्ररणा मिली कि भारतीय समाज मे क्रातिकारी परिवतन अनिवाय है। सन १८०५ से १८१४

तब इन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकरी की और अंग्रेज शासकों और व्यापारियों के सम्पर्क में आये। राजा राममोहन राय का मूर्ति पूजा और कर्मकाण्ड में विश्वास नहीं हुआ इसलिए वे केवल एक परमात्मा की पूजा पुनः प्रचलित करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने सन् १८१५ में आत्मसभा और फिर २० अगस्त सन् १८२८ को ब्रह्म समाज की स्थापना की। सन् १८२० के लगभग इन्होंने ईसाई धर्म पर एक पुस्तक भी लिखी थी जिसमें यह सिद्ध किया कि ईसा की कथायें कल्पित हैं। इन्होंने यह भी लिखा था कि 'यह स्वाभाविक बात है कि विजयी जाति अपने अधीन जाति के धर्म की खिल्ली उड़ाया करती है चाहे अपना धर्म कितना ही हास्यास्पद हो उधर ध्यान नहीं जाता।' यह अंग्रेजों के धर्म प्रचार का प्रथम किन्तु करारा उत्तर था। थोड़े ही समय इन्होंने समाज का संचालन किया और २७ सितम्बर सन् १८३३ को ब्रिस्टल में उनका देहावसान हो गया। किन्तु उनके द्वारा आरम्भ किया हुआ कार्य उनके मित्रों और अनुयायियों ने पूरा किया।

ब्रह्म समाज सिद्धान्त बहुत गम्भीर अध्ययन और विचार के बाद निर्धारित किए गये थे। इस समाज के मतानुसार ईश्वर केवल एक है। (एकेश्वरवाद) जो सर्वशक्तिमान है और संसार का सृजनहार है। उसकी उपासना सच्चाई और प्रेम के साथ होना चाहिए, वह सर्वव्यापक है। मूर्ति पूजा के विरुद्ध है तथा किसी वस्तु में विश्वास करते हैं। आत्मा की अमरता में भी उनका विश्वास है। प्रायश्चित द्वारा पापों से छुटकारा पाया जा सकता है। जाति पाँति के ये लोग विरोधी हैं और खान-पान में स्वतन्त्रता स्वीकार करते हैं। ब्रह्म समाज का धर्म बहुत उदार है इसमें मुसलमानों और ईसाई धर्मों के तत्वों का भी समावेश हुआ है। वास्तव में उस समय हिन्दू धर्म की अपनी विशेषता, उदारता और सहिष्णुता बनानी ही चाहिए थी। उनके देहावसान के पश्चात् महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर और बाबू केशवचन्द्र सेन ने इस संस्था का नेतृत्व किया। इस समय ब्रह्म समाज ईसाई धर्म से प्रभावित होने लगा था इसलिए ब्रह्म समाज की दो शाखायें हो गईं जिनका नाम प्रार्थना समाज और आदि समाज था ये जो अभी तक जारी है।

ब्रह्म समाज ने भारतीय समाज में सम्पूर्ण क्रान्ति को जन्म दिया है। इससे भारत में प्रचलित कुछ विचार, धार्मिक रीति रिवाज, संकुचित मनोवृत्ति और व्यर्थ के पूजा पाठ के आडम्बर दूर हो गये। सामाजिक सुधार आरम्भ हो गए। इन्होंने 'सती प्रथा' का घोर विरोध किया और सन् १८२९ में गवर्नर जनरल लिविलियम बैंटिंक के समय में नियम द्वारा यह कुप्रथा सदा के लिए समाप्त कर दी। इसी प्रकार जाति पाँति, पुरुषों के अनेक विवाह (Polygamy) तथा छोटी आयु में विवाह करने की प्रथा आदि कई कुरीतियों को दूर करने का वातावरण तैयार कर दिया। स्त्री पुनर्विवाह के वे समर्थक थे और स्वतन्त्रता के अनन्य पुजारी। इण्डियन प्रेस की स्थापना राजा राममोहन राय ने ही की थी। वे अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष में थे इसीलिए इन्होंने शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रखने के विचार का समर्थन किया था। इस प्रकार ब्रह्म समाज ने भारतवासियों को प्रेरणा दी कि वे अपनी सत्ता को

समझकर उसे अपनाने के स्थान पर उखाड फेंकने का दृढ निश्चय करें। महिला शिक्षा का प्रचार करने मे भी ब्रह्म समाज ने बहुत परिश्रम किया। वास्तव म इस समाज का सबसे अधिक महत्त्व इसलिए है कि आगे आने वाले सुधारको और आन्दोलनों के लिए इन्होंने माग प्रशस्त बना दिया इसी ढग पर चलने से आन्दोलन सफल हुए। अयथा शुद्ध रूप से धार्मिक अथवा राजनतिक आदोलन न तो आरम्भ करना सम्भव था और न विदेशी सत्ता उह आगे बढने देती। इसलिए ब्रह्म समाज का महत्त्व सबसे अधिक माना जाता है।

आय समाज

भारत के दूसरे महान् आदोलन की स्थापना आय समाज' के रूप म सन १८७५ म महर्षि दयानन्द सरस्वती ने बम्बई म की। इस सस्था द्वारा भारत म अपूर्व जन जागति हुई। जनता मे स्वाभिमान सस्कृति के प्रति सम्मान और स्वतन्त्रता प्राप्ति की भावना उत्पन्न हुई। स्वामी दयानन्द सरस्वती का जम काठियावाड प्रात क मोरवी ग्राम म हुआ था। इनके पिता का नाम अबाशकर और इनका जम नाम मूलशकर था। इनकी स्मृति बहुत अच्छी और बुद्धि प्रखर थी। अल्पायु में ही इहोने वेदा का अध्ययन समाप्त कर लिया था। सस्कृत यांकरण का इहें गहरा ज्ञान था। एक दिन शिवरात्रि की घटना से ही इनके मन म क्राति हो गई। शिव जी की प्रतिमा की स्थापना और पूजा होने के बाद इहोने देखा कि एक चूहा शिव प्रतिमा का प्रसाद ले गया। उसी समय इहोने सोचा कि जो देवता अपनी ही रक्षा नही कर सकता और दूसरा की रक्षा क्या करेगा और मूर्ति पूजा का विरोध करने लग गये। इसके थोडे समय पश्चात परिवार म एक दो मत्यु हो गइ। इन सब घटनाओं से उनके मन पर गहरी चोट सी लगी और व अधिक तमयता से विद्या ध्ययन म लग गये और वेद, याय साहित्य, व्याकरण आदि सब का नान प्राप्त कर लिया। फिर भी शाति न मिलने पर सन १८४५ म वे अचानक घर छोडकर चले गये और पन्द्रह वष तक निरतर पवत गुफा, नगर आदि स्थानो म घूमते रहे। मौन भी रहे, ब्रह्मचय से रहे केवल सस्कृत भाषा का ही उपयोग किया। अत म मथुरा म स्वामी विरजानन्द जी एक नेत्रहीन सत इह मिल और उनको गुरु बनाया। दो वष तक स्वामी जी के चरणा म रहे और फिर दीक्षा प्राप्त कर अपने सिद्धान्ता का प्रचार किया।

यद्यपि नवीन अग्रेजी शिक्षा से अनभिज्ञ थे तथापि सस्कृत, व्याकरण आदि के प्रकाण्ड पडित थे। अपने उद्देश्या को पूरा करने की दिशा म उहाने एक पुस्तक लिखी जिसे 'सत्यार्थप्रकाश' कहते है। यह आयसमाजिया का स्वामी जी द्वारा लिखित महत्त्वपूण ग्रथ है। इसम आयसमाज के निम्न दस नियमा का प्रतिपादन किया गया है —

१ ईश्वर सत् चित् आनन्द है। वह निराकार, यायपूण, दयालु, सव-शक्तिमान, सवव्यापक एव अमर है।

तक उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकरी की और अंग्रेज शासकों और व्यापारियों के सम्पर्क में आये। राजा राममोहन राय का मूर्ति पूजा और कर्मकाण्ड में विश्वास नहीं हुआ इसलिए वे केवल एक परमात्मा की पूजा पुनः प्रचलित करना चाहते थे। इसलिए इन्होंने सन् १८१५ में आत्मीय सभा और फिर २० अगस्त सन् १८१८ को 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। सन् १८२० के लगभग इन्होंने ईसाई धर्म पर एक पुस्तक भी लिखी थी जिसमें यह सिद्ध किया कि ईसा की कथायें कल्पित हैं। इन्होंने यह भी लिखा था कि 'यह स्वाभाविक बात है कि विजयी जाति पराजित अधीन जाति के धर्म की खिल्ली उड़ाया करती है चाहे अपना धर्म कितना ही हास्यास्पद हो उधर ध्यान नहीं जाता।' यह अंग्रेजों के धर्म प्रचार का प्रथम किन्तु करारा उत्तर था। थोड़े ही समय इस समाज का संचालन किया और २७ सितम्बर सन् १८३३ को ब्रिस्टल में उनका देहान्त हो गया। किन्तु उनके द्वारा प्रारम्भ किया हुआ कार्य उनके शिष्य और अनुयायियों ने पूरा किया।

ब्रह्म समाज सिद्धान्त बहुत गम्भीर अध्ययन और विचार के बाद निर्धारित किये गये थे। इस समाज के मतानुसार ईश्वर केवल एक है। (एकेश्वरवाद) जो सर्वशक्तिमान है और संसार का सृजनहार है। उसकी उपासना सच्चाई और स्नेह के साथ शान्ति पूर्वक होनी चाहिए, यह मानना है। मूर्ति पूजा के विरुद्ध है तथा किसी अवतार में विश्वास करते हैं। आत्मा की अमरता में भी इनका विश्वास है। प्रायश्चित्त द्वारा पापों से छुटकारा पाया जा सकता है। जाति पाँति के ये घोर विरोधी हैं और खान-पान में स्वतन्त्रता स्वीकार करते हैं। ब्रह्म समाज का धर्म बहुत उदार है इसमें मुसलमानों और ईसाई धर्मों के तत्वों का भी समावेश हुआ है। वास्तव में उस समय हिन्दू धर्म की अपनी विशालता, उदारता और सहिष्णुता बचानी ही थी। इनके देहान्त के पश्चात महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और बाबू केशवचन्द्र सेन ने इस संस्था का नेतृत्व किया। इस समय ब्रह्म समाज ईसाई धर्म से प्रभावित होने लगा था इसलिए ब्रह्म समाज की दो शाखायें हो गईं जिनका नाम प्रार्थना समाज और आदि समाज रखा गया जो अभी तक जीवित है।

ब्रह्म समाज ने भारतीय समाज में अत्यन्त क्रान्ति को जन्म दिया है। इससे भारत में प्रचलित बहु विवाह, सती रीति, बाल विवाह, संकुचित मनोवृत्ति और के पूजा पाठ के आडम्बर दूर हो गये। सामाजिक सुधार प्रारम्भ हो गये। इन्होंने सती प्रथा का घोर विरोध किया और सन् १८२९ में गवर्नर जनरल बैंटिक के समय में नियम द्वारा यह कुप्रथा सदैव के लिए समाप्त कर दी। इसी प्रकार जाति पाँति, पुरुषों के अनेक विवाह (Polygamy) तथा छोटी आयु में विवाह करने की प्रथा आदि कई कुरीतियों को दूर करने का वातावरण तैयार कर दिया। विधवा पुनर्विवाह के वे समर्थक थे और स्त्री शिक्षा के प्रबल पुजारी। हिन्दू कालेज की स्थापना राजा राममोहन राय ने ही की थी। वे अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष में भी थे, इन्होंने शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रखने के विचार का समर्थन किया था। इस प्रकार इस समाज ने राष्ट्रवादियों को प्रेरणा दी कि वे अपनी सत्ता को

समझकर उसे अपनाने के स्थान पर उखाड़ फेंकने का दृढ़ निश्चय करें। महिला शिक्षा का प्रचार करने में भी ब्रह्म समाज ने बहुत परिश्रम किया। वास्तव में इस समाज का सबसे अधिक महत्त्व इसलिए है कि आगे आने वाले सुधारकों और आन्दोलनों के लिए इन्होंने मार्ग प्रशस्त कर दिया इसी ढंग पर चलने से आन्दोलन सफल हुए। अन्यथा शुद्ध रूप से धार्मिक अथवा राजनैतिक आंदोलन न तो आरम्भ करना सम्भव था और न विदेशी सत्ता उन्हें आगे बढ़ने देती। इसलिए ब्रह्म समाज का महत्त्व सबसे अधिक माना जाता है।

आर्य समाज

भारत के दूसरे महान् आन्दोलन की स्थापना 'आर्य समाज' के रूप में सन् १८७५ में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने बम्बई में की। इस संस्था द्वारा भारत में अपूर्व जन जागृति हुई। जनता में स्वाभिमान संस्कृति के प्रति सम्मान और स्वतन्त्रता प्राप्ति की भावना उत्पन्न हुई। स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म काठियावाड़ प्रांत के मोरवी ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम अम्बाशंकर और इनका जन्म नाम मूलशंकर था। इनकी स्मृति बहुत अच्छी और बुद्धि प्रखर थी। अल्पायु में ही इन्होंने वेदों का अध्ययन समाप्त कर लिया था। संस्कृत व्याकरण का इन्हें गहरा ज्ञान था। एक दिन शिवरात्रि की घटना से ही इनके मन में क्रांति हो गई। शिव जी की प्रतिमा की स्थापना और पूजा होने के बाद इन्होंने देखा कि एक चूहा शिव प्रतिमा का प्रसाद ले गया। उसी समय इन्होंने सोचा कि जो देवता अपनी ही रक्षा नहीं कर सकता और दूसरों की रक्षा क्या करेगा और मूर्ति पूजा का विरोध करने लग गये। इसके थोड़े समय पश्चात् परिवार में एक दो मृत्यु हो गई। इन सब घटनाओं से उनके मन पर गहरी चोट भी लगी और वे अधिक तन्मयता से विद्याध्ययन में लग गये और वेद, न्याय, साहित्य, व्याकरण आदि सब का ज्ञान प्राप्त कर लिया। फिर भी शान्ति न मिलने पर सन् १८४५ में वे अचानक घर छोड़कर चले गये और पन्द्रह वर्ष तक निरन्तर पर्वत, गुफा, नगर आदि स्थानों में घूमते रहे। मौन भी रहे, ब्रह्मचर्य में रहे केवल संस्कृत भाषा का ही उपयोग किया। अन्त में मथुरा में स्वामी विरजानन्द जी एक नेत्रहीन संत इन्हें मिले और इनको गुरु बनाया। दो वर्ष तक स्वामी जी के चरणों में रहे और फिर दीक्षा प्राप्त कर अपने सिद्धांतों का प्रचार किया।

यद्यपि नवीन अंग्रेजी शिक्षा से अनभिज्ञ थे तथापि संस्कृत, व्याकरण आदि के प्रकाण्ड पण्डित थे। अपने उद्देश्यों को पूरा करने की दिशा में इन्होंने एक पुस्तक लिखा जिसे 'सत्यार्थप्रकाश' कहते हैं। यह आर्यसमाजियों का स्वामी जी द्वारा लिखित महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें आर्यसमाज के निम्न दस नियमों का प्रतिपादन किया गया है —

१ ईश्वर सत् चित् आनन्द है। वह निराकार, न्यायपूर्ण, दयालु, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक एवं अमर है।

२ ईश्वर ही ज्ञान का परम कारण है।

३ वेद ही ज्ञान का भण्डार है तथा प्रत्येक आर्य को इनका अध्ययन करना चाहिये।

४ प्रत्येक व्यक्ति सत्य ग्रहण करे तथा असत्य को त्यागे।

५ प्रत्येक कार्य उसके औचित्य का ध्यान में रखकर ही करना चाहिए।

६ समाज का उद्देश्य मानव जाति की हर प्रकार की उन्नति करना है।

७ प्रत्येक के साथ उसके गुणों के अनुसार प्रेम और न्यायपूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

८ अविद्या का नाश और विद्या का प्रचार करना चाहिए।

९ प्रत्येक को सर्वसाधारण की उन्नति में ही अपनी उन्नति समझना चाहिए।

१० व्यक्तिगत विषयों में प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र होना चाहिए और सामाजिक कार्यों के लिए परस्पर अधीनता रखनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त मूर्ति पूजा का खण्डन वेदों की सत्यता का मण्डन और उनके द्वारा कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन प्राचीन कर्मकाण्ड और पुरोहितवाद का विरोध आदि उनके सिद्धान्त होते थे। शुद्धि आन्दोलन द्वारा वास्तव में स्वामी जी ने हिन्दू धर्म को बचा लिया। अभी तक हिन्दू धर्म से जाने वालों का फिर लौटने का मार्ग बन्द था। स्वामी जी के शुद्धि आन्दोलन द्वारा अभूतपूर्व क्रान्ति हुई और हिन्दू धर्म को इतनी सजीवनी प्राप्त हो गई कि लाखों हिन्दू अछूत जो धर्म परिवर्तन करके पछता रहे थे पुनः हिन्दुत्व ग्रहण कर लिया। धर्म रक्षण की भावना से समाज सुधार का पुनः प्रसार होने लगा। आर्यसमाज के प्रचार में स्वामी दयानन्द सरस्वती की तेजस्वी मुखाकृति और स्वस्थ शरीर आकर्षक व्यक्तित्व और विलक्षण वक्तृत्व शक्ति ने बहुत काम किया। उन्होंने कहा कि जाति पाँति व्यर्थ है। स्त्रियों को समाज में समान स्थान मिलना चाहिए और शिक्षा प्रणाली भी प्राचीन परिपाटी के अनुसार होनी चाहिए। सन् १८७२ में कलकत्ता जाने पर स्वामी जी ने देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन से भी वार्तालाप किया और तब से हिन्दी बोलना आरम्भ कर दिया। अब वे अधिक जनता के सम्पर्क में आये। राजस्थान में जब स्वामी जी पधारे तो राजा महाराजाओं ने भी उनका स्वागत किया। महाराणा सज्जनसिंह जी ने उसी समय उनके प्रभाव में राज्य का काम काज हिन्दी में आरम्भ करने की आज्ञा प्रचलित कर दी थी। वे वास्तव में निर्भय, आत्मविश्वासी और परम ईश्वर भक्त थे।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी संस्था आर्यसमाज द्वारा अन्य समाज सुधार के कार्यों में भी सफलता प्राप्त की। प्राचीन और नवीन ढंग की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और कन्याओं की शिक्षाओं का विशेष प्रबन्ध, बाल विवाह पर्दा और दहेज प्रथा का निवारण आदि भी इस संस्था ने किया। श्री हंसराज लाला लाजपतराय और अन्य लोगों ने इस कार्य में बहुत सहयोग दिया। गुरुकुल (कांगड़ी) की स्थापना १९०२ में हुई। जालन्धर में कन्या महाविद्यालय की स्थापना की गई।

इनके अतिरिक्त अपनी सस्था के समाचार-पत्र निकालना, अनाथ बालकों की रक्षा के लिए अनाथालयों की स्थापना, विधवा आश्रम और महिला आश्रमों (Rescue Homes) की स्थापना तथा राष्ट्रीय सेवा सम्बन्धी सगठनों की स्थापना में भी ये सस्थायें जुटी रहीं। यही कारण है कि मुस्लिम और ईसाई धर्मों की बाढ़ का प्रकोप रुक सका। आर्यसमाज ने हिन्दुओं को सचेत कर समर्थ बना दिया। अभी तक हिन्दू बहुत सीधा सादा जीव था जिसे हर प्रकार और धर्म के लोग जो चाहें सुना देते थे। आर्यसमाज ने उसमें पुरुषत्व का बोध करा दिया और शेष सब लोग उसके प्रकाश से चौंधियाने लगे। इसके अतिरिक्त आर्यसमाज ने सबसे बड़ी सेवा राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करने में की। स्वराष्ट्र की भावना हिन्दी भाषा का विकास और अपनी सस्कृति में स्वाभिमान अपरोक्ष रूप से स्वतन्त्रता की ओर चलने के सोपान थे। इस प्रकार आर्यसमाज ने भारत की अद्भुत सेवा की है।

रामकृष्ण मिशन

इसी सस्था को वेदान्त समाज भी कहते हैं। यह सस्था बगाल के प्रसिद्ध महात्मा रामकृष्ण परमहस के नाम पर उनके अदभुत एव परम शिष्य स्वामी विवेकानन्द द्वारा सन् १८९७ में स्थापित की गई थी। इसका मुख्य उद्देश्य परमहस स्वामी रामकृष्ण के उपदेशों का प्रसार करना था। पहले स्वामी विवेकानन्द नास्तिक थे किन्तु परमहस के साथ रहने पर ईश्वर में विश्वास करने लगे। सन १८९२ से इन्होंने गुरु के सिद्धान्तों का प्रचार आरम्भ कर दिया था। सन् १८९३ में ये विश्व के सर्वधर्म सम्मेलन में भाग लेने शिकागो (अमेरिका) गये। वहाँ सर्वप्रथम पश्चिमी देशों के लोगों को वेदान्त की महत्ता स्वामी जी ने प्रकट की जिसे सुन कर सब लोग चकित हो गये। विदेशों में हिन्दू धर्म का सन्देश पहुँचाने का बहुत बड़ा कार्य स्वामी जी ने किया। पुन भारत आकर उन्होंने वेदान्त समाज का सगठन कर समाज सेवा आरम्भ की। स्वामी जी की वेदान्त व्याख्या वर्णन शैली और हृदयस्पर्शी वाणी में बड़ा चमत्कार था। वे स्वय कर्मठ सन्यासी धुरन्धर विद्वान और वेदों के प्रकाण्ड पडित थे। वे देश विदेश सर्वत्र भ्रमण करते रहते थे इसलिए पूर्व और पश्चिम की सभ्यता के समन्वय में इनका बहुत महत्वपूर्ण योग रहा है।

रामकृष्ण मिशन का प्रधान कार्यालय बेलूर मठ में है और इसकी शाखायें देश के भिन्न भिन्न स्थानों एव विदेशों में सगठित की हुई हैं। आध्यात्मिक शिक्षा की दृष्टि से मिशन सस्ते और अनमोल साहित्य का प्रकाशन करता है। यह मिशन किसी धर्म विशेष का प्रचार नहीं करता चाहे इसका दृष्टिकोण वेदान्ती है। इसमें सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखा जाता है। मिशन सेवा कार्य पर अधिक बल देता है। चिकित्सालय विद्यालय आदि चलाना अकाल भूकम्प, बाढ़ आदि आपत्तियों के समय जनता की सेवा करना, छुआछूत का निवारण, बालविवाह को रोकना, स्त्रियों की दशा सुधारना आदि कार्यों में सलग्न रहता है।

इस मिशन के आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है

कि परमहंस जी का विश्वास था—ईश्वर निराकार है तथा मनुष्य के ज्ञान से परे है किन्तु प्रत्येक वस्तु में ईश्वर विद्यमान है। संसार का प्रत्येक कार्य ईश्वर के द्वारा ही सम्पादित होता है। संसार के सब धर्म समान हैं इसलिए धर्म परिवर्तन व्यर्थ है प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही धर्म का आचरण करना चाहिए। प्रत्येक धर्म अच्छा है। आत्मा ईश्वरीय है। हिन्दू सभ्यता संसार में सर्वश्रेष्ठ और अति प्राचीन है। यही श्रेय और प्रेय दाता है। इसमें सत्यं शिवं-सुन्दरम् की अनुभूति है। पाश्चात्य जगत भौतिकवादी है और भारत आध्यात्मिक, इसलिए भारत ही सदैव जगतगुरु रहा है और रहेगा।

इस प्रकार के धर्म और समाज का प्रभाव भारत में और विदेशों में होना स्वाभाविक था। यद्यपि स्वामी जी स्वयं केवल उनचास वर्ष की आयु में ही संसार छोड़ गये किन्तु इस अल्पकाल में ही उनका प्रभाव इतना अधिक हो गया था कि यूरोप और एशिया उनके उपकार से कभी उऋण नहीं हो सकता। उन्होंने भारत में आत्मगौरव की भावना जागृत की और अपनी संस्कृति, इतिहास और आध्यात्मिकता की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। इस प्रकार इस मिशन ने धर्म, समाज और राजनीति तीनों क्षेत्रों में महान् सुधार किये।

थियोसोफिकल समाज

इस समाज की स्थापना सर्वप्रथम अमरीका के न्यूयार्क नगर में सन् १८७५ में हुई थी। श्रीमती ब्लावाट्स्की (रूसी महिला) और कर्नल ऑलकॉट (अमरीकी) इस संस्था के जन्मदाता थे। ये दोनों ब्रह्म विद्या के अच्छे जानकार थे। बाद में ब्रह्म विद्या की ओर इनका झुकाव हुआ था। इनके विचार बड़े उदार और निर्मल थे। इनका विश्वास था कि समूचा विश्व विकास की एक ही योजना पर आधारित है और प्रत्येक धर्म तथा राष्ट्र उसी क्रम का व्यक्त करता है। किसी भी धर्म का दूसरे से विरोध नहीं हो सकता। सन् १८७९ में ये लोग हिन्दुस्तान में आये और मद्रास के निकट अडयार ग्राम में अपना समाज स्थापित कर लिया। कर्नल ऑलकॉट ने समस्त देश का भ्रमण किया और यह आपत्ति की कि प्रचारकों द्वारा ईसाई धर्म भारतवासियों पर जबरन थोपा जा रहा है जो विकास क्रम के विरुद्ध है। ये लोग मानते थे कि सब धर्मों में सत्य का तत्त्व है और भारत के धर्म में यह तत्त्व विशेष रूप से है।

इंग्लैंड में एनीबेसेंट नामक एक आयरिश महिला इस संस्था की सदस्य बनीं और सन् १८९३ में लगभग छियालीस वर्ष की अवस्था में वह भारत आईं। वह भारत के हिन्दू धर्म से बहुत प्रभावित हुईं। उसने सादा पहनना और ब्राह्मणों की भांति भोजन आदि आरम्भ कर दिया। हिन्दू तीर्थों की यात्रा की। उसे काशी बहुत अच्छा लगा और वहीं रहने लगीं। यहीं उसने केन्द्रीय हिन्दू कालेज की स्थापना की और गीता का अंग्रेजी अनुवाद किया। उन्होंने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया और वेदान्त के आदर्शों का प्रचार करने लग गईं।

थियोसोफिकल समाज वास्तव में सर्वधर्म समाज है। पश्चिम के भौतिकवाद और हिन्दुओं के अंध विश्वास का यह विरोधी है। यह विश्व बन्धुत्व में विश्वास करता है और सब मनुष्यों की समानता का समर्थक है। ईश्वर की एकता और सर्वशक्तिमत्ता में इसका विश्वास है। आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानता है और बन्धुता और शान्ति जीवन के आदर्श माने जाते हैं। सामाजिक क्षेत्र में, जाति पाँति का विरोध स्त्रियों की दशा सुधारने में योग और शिक्षा द्वारा सभ्यता फैलाने का कार्य किया है। राजनैतिक क्षेत्र में भी डा० मिसेज बीसेन्ट ने घोषणा की थी कि भारतवर्ष के स्वामी भारतीय ही हैं अतः उन्हें स्वराज्य (Home Rule) प्राप्त होना ही चाहिए। वास्तव में भारत में इस समाज की सफलता का श्रेय श्रीमती एनीबीसेंट को ही है। सन् १९१४ में भाषण करते हुए उन्होंने कहा था कि निरन्तर ४० वर्ष के चिन्तन और मनन के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँची हूँ कि हिन्दू धर्म से बढ़कर वैज्ञानिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक धर्म संसार में कोई दूसरा नहीं है।

अन्य सुधार आन्दोलन

हिन्दू समाज के उपरोक्त आन्दोलनों के अतिरिक्त राधास्वामी सत्संग प्रार्थना समाज, देव समाज आदि का उल्लेख भी किया जाता है। किन्तु वास्तव में ये देश-व्यापी आन्दोलन नहीं थे। इनका प्रभाव एक सीमित क्षेत्र में रहा है इसलिए इन्हें केवल प्रादेशिक आन्दोलन के रूप में ही स्वीकार किया जाता है।

राधास्वामी सत्संग—इसकी स्थापना सन् १८६१ ई० में श्री शिवदयाल जी महाराज ने की थी। इस समय भी इसका कार्यक्षेत्र दयालबाग आगरा में ही सीमित है। परन्तु समाज व शिक्षा के क्षेत्र में इस संस्था ने खूब सेवा की है। इसके प्रमुख सिद्धान्तों के अनुसार ईश्वर पूर्ण है और आत्मा ही ईश्वर है। ईश्वर की प्राप्ति में विश्वास करते हैं। आत्मा का पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानते हैं और गुरु को ईश्वर का अवतार मानते हैं। इनका जाति पाँति में विश्वास नहीं है। आगरा में कालेज, कृषि और दूसरी संस्थायें अब भी सक्रिय हैं।

प्रार्थना समाज—यह संस्था ईश्वर की पूजा और आराधना के लिए ही सन् १८६७ में डा० पांडुरंग के नेतृत्व में बम्बई में स्थापित की गई। इसके दो उद्देश्य थे—ईश्वर पूजा और समाज सुधार। इन लोगों पर ब्रह्म समाज का बहुत प्रभाव रहा है। इस समाज ने मजदूरों के लिए रात्रि-पाठशालायें दलित जातियों के उद्धार के लिए दलित उद्धार मिशन स्त्री शिक्षा के लिए महिला विद्यालय अनाथों के लिए अनाथालय आदि की स्थापना की है। जस्टिस एम० जी० रानाडे और डा० आर० जी० भण्डारकर इसके प्रमुख सदस्यों में से थे। जस्टिस रानाडे ने समाज-सम्मेलनों की प्रथा चलाई और एक पत्र इन्दु प्रकाश चला कर जागृति में योग दिया। गोखले तिलक और गणेश आगारकर भी इसके सदस्य थे। फर्गुसन कालेज की स्थापना एक छोटी सी पाठशाला के रूप में, इसी संस्था ने की थी। बालविवाह बन्द करना,

के सम्पर्क से बाद में सामाजिक और राजनैतिक सभी क्षेत्रों में सुधार का कार्य आरम्भ हुआ। श्रीमती सरोजिनी नायडू, सरला देवी, कमला देवी, पं० विजय लक्ष्मी पंडित इन्दिरा गांधी आदि ने यह कार्य पूरी लगन से शुरू किया। सन् १९१७ में सर्वप्रथम राजनैतिक अधिकारों की मांग की और इनके ऊपर कहे गये अनेक आन्दोलन प्रारम्भ हो गये। सन ४६ में नवीन संविधान बनाने के लिए जो सभा बनी उसमें दस स्त्रियाँ भी सदस्य बनी और आज बहुत सी स्त्रियाँ मंत्रिणी राजदूत सचिव कलक्टर, वकील, प्रोफेसर आदि अनेक पदों पर कार्य कर रही हैं।

यही नहीं श्रमिकों की दशा सुधारने में भी गांधी जी ने योग दिया है। अभी तक मार्क्स के प्रभाव में श्रमिक पूंजीपतियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे और पूंजीपति श्रमिकों से भयभीत रहते थे। गांधी जी ने 'सर्वोदय सिद्धान्त देकर और ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के द्वारा समाज में से घृणा का वातावरण दूर किया और प्रेम का साम्राज्य स्थापित किया था।

मुस्लिम सुधार आन्दोलन—हिन्दू समाज की भांति ही मुस्लिम समाज में भी बहुत सी कुरीतियाँ उत्पन्न हो गई थी। मुस्लिम समाज वैसे भी आरम्भ से अनुदार अधिक रहा है और आधुनिक शिक्षा का अभाव भी था। इसके अतिरिक्त यहाँ अधिकांश एसे मुसलमान थे जो पहले हिन्दू थे। इसलिए अनेक दोष उत्पन्न हो गए और उनका निवारण करने के लिए मुसलमानों में भी सुधार आन्दोलन हुए। उनमें से मुख्य निम्नलिखित ये हैं—

(१) अलीगढ़ आन्दोलन—यह आन्दोलन सर सैयद अहमद खाँ ने चलाया था। उनका विश्वास था कि मुस्लिम जगत दो कारणों से पतित होता जा रहा है। पहला यह कि अंग्रेज हम सन १८५७ के विद्रोह के लिए उत्तरदायी समझते हैं और हमसे अप्रसन्न हैं और दूसरा यह कि हम लोग रूढ़िवादी और अन्ध विश्वासी हैं और शिक्षा का अभाव है। इन्ही दोनों त्रुटियों को दूर करने के लिए उन्होंने यह आन्दोलन चलाया था। अंग्रेजों को पूर्ण स्वामिभक्ति का विश्वास दिलाया और सन १८७८ ई० में अलीगढ़ में ही मोहमडन एंग्लो ओरिएण्टल कालेज' की स्थापना का कार्य किया। वही आज यूनिवर्सिटी के रूप में बन गया है।

(२) वहाबी आन्दोलन—यह आन्दोलन अरब में चला था। उसी का प्रभाव भारतवर्ष में भी आ गया। इसके नेता श्री सैयद अहमद बरेलवी थे। ये भी अपने समाज को सुधारना चाहते थे। इन्होंने ईश्वर की एकता और उसकी पूजा पर बल दिया और उसे निराकार भी माना। वे पश्चिमी शिक्षा और सभ्यता के विरुद्ध थे और राजनैतिक दृष्टि से पुनः मुस्लिम शासन स्थापित करना चाहते थे। बंगाल में इसका प्रभाव अधिक था। सिक्खों और अंग्रेजों से वे बहुत लड़े और बाद में अंग्रेजों ने इस आन्दोलन को पूरी तरह दबा दिया था।

(३) अहमदिया आन्दोलन—इसके संस्थापक मिर्जा गुलाम अहमद (१८३६-१९०८) थे। ये पंजाब में कादियाना के निवासी थे। वे स्वयं ईश्वर होने का दावा करते थे और इस्लाम धर्म के सुधार के लिए प्रयत्नशील थे। अन्ध विश्वास

का वे खण्डन करते थे ये पुरातन वादी थे ग्रौर पर्दे, तलाक, बहु विवाह ग्रौर ग्रन्य प्रथाग्रा के समयक थ । थ ईसा ग्रौर विष्णु के ग्रवतार भी बनते थे । इनकी मत्यु के बाद ग्रनुयायिया मे फूट पड गई, कुछ इन्हें 'नबी' मानते थे ग्रौर कुछ केवल सुधारक । इनका प्रभाव ग्रधिक नही हुग्रा ।

इन सुधार ग्रान्दोलना के फलस्वरूप मुसलमाना म चेतना ग्रौर जागृति ग्रवश्य हुई ग्रौर पश्चिमी शिक्षा का प्रसार भी हुग्रा ।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ भारत के धार्मिक ग्रौर सामाजिक ग्रान्दोलनों पर निबन्ध लिखिए ।

२ ग्राय समाज के सिद्धान्त ग्रौर सफलता पर ग्रपने विचार लिखिए ।

३ ब्रह्म समाज ग्रान्दोलन का महत्व ग्रौर योग समझाकर लिखिए ।

४ 'वेदान्त समाज' की स्थापना ग्रौर सफलता का वणन कीजिए ।

५ सक्षिप्त टिप्पणिया लिखिये —

१ महिला सुधार ग्रान्दोलन । २ मुस्लिम सुधार ग्रान्दोलन ।

३ राधा स्वामी सत्सग । ४ प्रार्थना समाज ।

— o —

के सम्पर्क से बाद में सामाजिक और राजनैतिक सभी क्षेत्रों में सुधार का कार्य प्रारम्भ हुआ। श्रीमती सरोजिनी नायडू, सरला देवी, कमला देवी, प० विजय लक्ष्मी पंडित इंदिरा गांधी आदि ने यह कार्य पूरी लगन से शुरू किया। सन् १९१७ में सर्वप्रथम राजनैतिक अधिकारों की माँग की और इसके ऊपर कई गये अनेक आन्दोलन प्रारम्भ हो गये। सन ४६ में नवीन संविधान बनाने के लिए जो सभा बनी उसमें दस स्त्रियाँ भी सदस्य बनी और आज बहुत सी स्त्रियाँ मंत्रिणी राजदूत, सचिव कलक्टर वकील, प्रोफेसर आदि अनेक पदों पर काम कर रही हैं।

यही नहीं श्रमिकों की दशा सुधारने में भी गांधी जी ने योग दिया है। अभी तक मार्क्स के प्रभाव में श्रमिक पूंजीपतियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे और पूंजीपति श्रमिकों से भयभीत रहते थे। गांधी जी ने 'सर्वोदय' सिद्धान्त देकर और 'ट्रस्टीशिप' के सिद्धान्त के द्वारा समाज में से घृणा का वातावरण दूर किया और प्रेम का साम्राज्य स्थापित किया था।

मुस्लिम सुधार आन्दोलन—हिन्दू समाज की भांति ही मुस्लिम समाज में भी बहुत सी कुरीतियाँ उत्पन्न हो गई थी। मुस्लिम समाज शुरू से ही प्रारम्भ से अनुदार अधिक रहा है और आधुनिक शिक्षा का अभाव भी था। इसके अतिरिक्त यहाँ अधिकांश एसे मुसलमान थे जो पहले हिन्दू थे। इसलिए अनेक दोष उत्पन्न हो गए और उनका निवारण करने के लिए मुसलमानों में भी सुधार आन्दोलन हुए। उनमें से मुख्य निम्नलिखित थे हैं—

(१) अलीगढ़ आन्दोलन—यह आन्दोलन सर सय्यद अहमद खाँ ने चलाया था। उनका विश्वास था कि मुस्लिम जगत दो कारणों से पतित होता जा रहा है। पहला यह कि अंग्रेज हम सन १८५७ के विद्रोह के लिए उत्तरदायी समझते हैं और हमसे अप्रसन्न हैं और दूसरा यह कि हम लोग रूढ़िवादी और अन्ध विश्वासी हैं और शिक्षा का अभाव है। इन्हीं दोनों त्रुटियों को दूर करने के लिए उन्होंने यह आन्दोलन चलाया था। अंग्रेजों को पूर्ण स्वामिभक्ति का विश्वास दिलाया और सन् १८७८ ई० में अलीगढ़ में हो मोहमडन एंग्लो ओरिएण्टल कालेज' की स्थापना का कार्य किया। यही आज यूनिवर्सिटी के रूप में बन गया है।

(२) वहाबी आन्दोलन—यह आन्दोलन अरब में चला था। उसी का प्रभाव भारतवर्ष में भी आ गया। इसके नेता थे सय्यद अहमद बरेलवी थे। ये भी अपने समाज को सुधारना चाहते थे। इन्होंने ईश्वर की एकता और उसकी पूजा पर बल दिया और उसे निराकार भी माना। वे पश्चिमी शिक्षा और सभ्यता के विरुद्ध थे और राजनैतिक दृष्टि से पुनः मुस्लिम शासन स्थापित करना चाहते थे। बंगाल में इसका प्रभाव अधिक था। सिक्खों और अंग्रेजों से वे बहुत लड़े और बाद में अंग्रेजों ने इस आन्दोलन को बुरी तरह दबा दिया था।

(३) अहमदिया आन्दोलन—इसके संस्थापक मिर्जा गुलाम अहमद (१८३९-१९०८) थे। ये पंजाब में कादियाना के निवासी थे। वे स्वयं ईश्वर होने का दावा करते थे और इस्लाम धर्म के सुधार के लिए प्रयत्नशील थे। अन्ध विश्वास

था वे खण्डन करते थे ये पुरातन वादी थे और पर्दे, तलाक, बहु विवाह और अन्य प्रथाओं के समर्थक थे। ये ईसा और विष्णु के अवतार भी बनते थे। इनकी मृत्यु के बाद अनुयायियों में फूट पड़ गई, कुछ इन्हें 'नबी' मानते थे और कुछ केवल सुधारक। इनका प्रभाव अधिक नहीं हुआ।

इन सुधार आन्दोलनों के फलस्वरूप मुसलमानों में चेतना और जागृति अवश्य हुई और पश्चिमी शिक्षा का प्रसार भी हुआ।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ भारत के धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों पर निबन्ध लिखिए।
२ आर्य समाज के सिद्धान्त और सफलता पर अपने विचार लिखिए।
३ ब्रह्म समाज आन्दोलन का महत्व और योग समझाकर लिखिए।
४ 'वेदान्त समाज' की स्थापना और सफलता का वर्णन कीजिए।
५ संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये —
  १ महिला सुधार आन्दोलन। २ मुस्लिम सुधार आन्दोलन।
  ३ राधा स्वामी सत्संग। ४ प्रार्थना समाज।

— ० —

उन्नीसवाँ अध्याय

राष्ट्रीय आन्दोलन (१८५७–१९४७)

प्रस्तावना—अंग्रेजों के शासन के पहले भारतवर्ष सोने की चिड़िया कहलाता था। यहाँ धन धान्य के भंडार भरे थे, दूध घी की नदियाँ बहती थीं, चारों ओर समृद्धि थी। शिक्षा स्वास्थ्य और श्रम का बाहुल्य था। सहयोग और सदाचारिता का वातावरण था। वेद का प्रचार था। परस्पर नागरिक स्नेहमय जीवन व्यतीत करते थे किन्तु नियति का चक्र सदैव गतिमान रहता है। जो देश इतना ऊँचा उठा उसका पतन भी होना था। देश का राष्ट्रीय जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। समाज में कुरीतियाँ फैल गई। शासन व्यवस्था डाँवाडोल हो गई। खण्ड खण्ड होकर देश में अनेक राज्य और उपराज्य बन गए। विदेशी लोग देश में घुसने लगे। परस्पर होड़ आरम्भ हुई। फ्रांसीसी, पुर्तगाली और अंग्रेज मुख्य थे। अन्त में अंग्रेजों ने अपना एकदम राज्य स्थापित किया। परन्तु अंग्रेजों के भारत प्रवेश से भारतीय शासकों और सैनिकों को गहरा धक्का लगा और उसी के फलस्वरूप सन १८५७ की प्रथम क्रांति के दर्शन हुए।

ब्रिटिश शासन की स्थापना—दीर्घकाल से भारत अपने व्यवसाय के लिए विख्यात था और यहाँ की वस्तुएँ संसार के बड़े बड़े बाजारों में अच्छे मूल्य पर स्वीकार की जाती थीं। इसलिए अंग्रेज लोगों की भारतवर्ष के साथ व्यापार करने की उत्कण्ठा तीव्र हुई और सन १६०० में उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नाम से महारानी एलिजाबेथ से आज्ञा पत्र प्राप्त कर लिया। यहाँ व्यापार के लिए ही वे वास्तव में आए थे किन्तु स्थानीय शासकों के परस्पर संघर्ष की स्थिति देखकर उन्होंने लाभ उठाया और राजनैतिक सत्ता पर एकाधिकार जमा लिया। अन्य विदेशी लोगों को बलपूर्वक निस्तेज बना दिया और धीरे धीरे निकाल दिया। सन १७६५ में कम्पनी को दीवानी अधिकार भी मिल गए और शासन की सत्ता प्राप्त होने लगी। फिर रेगूलेटिंग एक्ट, पिट का भारतीय एक्ट और अनेक संसदीय अधिनियम बनते गए और शासन अच्छी तरह जम गया और ब्रिटिश संसद के अधिनियमों से संचलित शासन आरम्भ हो गया।

सन १८५७ की क्रांति—यद्यपि सन १७५७ से लेकर १८५७ तक सम्पूर्ण भारत अंग्रेजों के प्रभाव में आ गया था, समस्त क्षेत्रों में अंग्रेजों का प्रसार था किन्तु भारतीय अपनी जाती हुई स्वतन्त्रता को खुले नेत्रों से देख और समझ रहे थे। ऐसी स्थिति में अन्य कई ऐसे तत्व उत्पन्न हो गए जो ज्वाला को चेतन्य करने वाले थे और अन्त में 'कारतूस' के आविष्कार ने तो चिनगारी का कार्य करके क्रांति की ज्वाला ही धधका दी। इन सभी तत्वों का अध्ययन हम संक्षेप में करेंगे।

राजनैतिक दृष्टि से तत्कालीन सम्राट बहादुरशाह का गद्दी से हटाना, अवध

को अंग्रेजी राज्य में मिलाना लार्ड डलहौजी की नीति द्वारा संतानहीन शासकों के राज्यों को समाप्त करना (Policy of Lapse), आदि कारण बचे हुए शासकों में भविष्य की दृष्टि से असंतोष उत्पन्न करने में सहायक हुए और फलस्वरूप तत्कालीन प्रभावशाली शासक वर्ग पेशवा, नाना साहिब तात्या टोपे आदि क्रांति का निर्णय लेने के बाध्य हुए। आर्थिक क्षेत्र में कुटीर उद्योग नष्ट हो जाने से बेकारी फैल गई, कृषकों का शोषण होने लगा, कच्चा माल इंगलैंड जाने लगा और भारतवर्ष अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ भी बना सकने योग्य न रहा। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों के प्रति अविश्वास का वायुमण्डल बन गया और भलाई के काम भी सन्देहमय दिखाई दिए। सती प्रथा बन्द करना धर्म में हस्तक्षेप माना गया रेलों का प्रचार धर्मभ्रष्ट करने और छूआछूत को मिटाने का उपाय समझा, पश्चिमी शिक्षा के प्रति अनादर होने लगा और साथ ईसाई धर्म के प्रचार ने सबको ईसाई बनाने की बात की पुष्टि कर दी। इसके अतिरिक्त सेना में गोरे और काले के भेद के साथ पद, रहन सहन और वेतन का भी भेद होने लगा बाइबिल का अध्ययन दाढ़ी मूँछ मुंडाना समुद्र पार जाना आदि जरूरी से बना दिए और फिर कारतूसों का प्रयोग जो गाय या सूअर की चर्बी से बनाए गए कहे जाते थे और मुँह से खोलने पड़ते थे उनके द्वारा तो घोर असंतोष की ज्वाला एकदम भड़क उठी।

१० मई सन् १८५७ को मेरठ के सिपाहियों ने क्रांति की थी। जहाँ-जहाँ अंग्रेजी सेनाएँ थी वहाँ हिन्दुस्तानी सैनिकों ने अवज्ञा शुरू कर दी। जनता सैनिकों के साथ थी और सामंत वर्ग ने इनका समर्थन किया। मुगल सम्राट बहादुरशाह पेशवा नाना साहिब, बिहार के कुंवरसेन और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने खुलकर इस क्रांति का नेतृत्व किया। बहादुरशाह को पुनः दिल्ली सम्राट घोषित कर दिया। यत्र तत्र अंग्रेजों को मारकर भारतवासियों ने अपना आधिपत्य जमा लिया। दिल्ली, लखनऊ कानपुर, मालवा और झाँसी आदि में क्रांति का विकट रूप था। राजस्थान में भी कोटा, आहुआ और कुछ दूसरे स्थानों पर भयंकर काण्ड हुए और कुछ समय के लिए स्थानीय अधिकारियों की सत्ता स्थापित हुई किन्तु फिरंगियों की शक्ति, शस्त्रास्त्र अधिक प्रभावी थे और इससे भी अधिक वे नीति निपुण थे। भारत के इतिहास का उन्होंने अध्ययन ध्यान से किया था। विभीषण, जयचन्द आदि चरित्रों से वे परिचित थे। अतः गोरखा, सिक्ख और कुछ भारतवासी प्राचीन शासकों को अपनी ओर मिलाने में विलम्ब नहीं हुआ। अंत में संघर्ष समाप्त हो गया। बड़ी कठोरता और निर्दयतापूर्वक भारत में दमन चक्र चला। क्रांति के समस्त सेनानी तितर बितर हो गए। अनेकों की जीवन लीला समाप्त हो गई। धोखे से तात्या टोपे गिरफ्तार करवा दिया और अंग्रेजों ने उसे फाँसी चढ़ा दिया। क्रांति सम्बन्धित सभी लोगों को फाँसियाँ दीं और अन्य पीड़ाएँ पहुँचाई गई। यद्यपि क्रांति असफल रही किन्तु इसका प्रभाव बहुत गहरा हुआ। भारत की यही प्रथम क्रांति थी।

इस क्रांति के बाद महारानी विक्टोरिया ने घोषणा की कि हम सब धर्मों को समान समझते हैं और भारतवासियों के हित के लिए शासन चलायेंगे। राजाओं के

राज्य में कम से कम इतना तो करेंगे और उन्हें शासन करने का अधिकार भी होगा। सन् १८५८ में महारानी की घोषणा द्वारा और कम्पनी के स्थान पर सीधा ब्रिटिश सरकार द्वारा शासन संचालित हुआ।

राजनैतिक जागृति—उपरोक्त प्रकार से बाद देश में जागृति का आरम्भ हुआ। बहुत से नेताओं और बड़े और विचारकों ने संवैधानिक मार्गों से पश्चात् राष्ट्रीय कार्य करना आरम्भ किया। सामाजिक सुधारकों के मार्गों पर गम्भीर विचार करने लगे। शिक्षा ने राष्ट्रीय भावना पैदा किया। भारतीयों ने पश्चिम के अत्याचार और उनकी घृणा की भावना अपने राष्ट्रीय साहित्य में निर्माण और प्रचार करना आरम्भ किया। ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्य समाज आदि संस्थाओं ने इसमें जितना कुछ कार्य किया और राष्ट्रीयता और एकता की नई विचारधाराएँ दीं। बंगाल, मद्रास प्रान्त, बम्बई और पंजाब में धीरे धीरे राजनैतिक संस्थाएँ भी बनने लगीं। अंग्रेजी शिक्षा के साथ इस जागृति में अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव उल्लेखनीय रहा है। शासन में अंग्रेजों के ज्ञान से उनकी भावना का अनुभव प्राप्त शासन के बाद बहुत भारतीयों में असन्तोष का अनुभव, सरकारी उच्च पद प्राप्त न होना, समाचार पत्र एवं साहित्य का विकास, भारतवर्ष में अंग्रेज नीति का प्रसार आदि का असर बहुत हो रहा है। इसके अतिरिक्त लार्ड लिटन का शासन भारतीयों में बहुत असन्तोषजनक हुआ। भारतीय समाचार पत्रों से सम्बन्धित देशी भाषा समाचार कानून (Vernacular Press Act) उसी के समय में बना था। हथियारों के लिए लाइसेंस लेने का नियम भी उसी समय बना और रुई के निर्यात पर से कर भी उठा लिया गया था जो कि इंग्लैंड से अच्छा नहीं था। साथ ही अन्य लोगों ने कुछ अच्छे कार्य करके भी इस जागृति में भाग लिया। लार्ड रिपन ने अपनी उदार नीति द्वारा यहाँ स्थानीय स्वशासन की स्थापना की और सबको उन्नति का अवसर दिया। इसका प्रभाव यह था कि भारतीय यह अनुभव करने लगे थे कि भविष्य में स्वराज्य सम्भव प्रतीत होता है। लार्ड रिपन ने भी कलकत्ता विश्वविद्यालय में भाषण देते हुए कहा था कि वह समय शीघ्र आने वाला है जब भारत का शासन भारतीयों द्वारा चलाया जायगा और उसका कोई विरोध नहीं कर सकेगा। इसी समय इलबर्ट बिल द्वारा यह स्पष्ट हो गया कि भारतवासियों को अंग्रेजों से न्याय की आशा करना व्यर्थ है। मिस्टर ह्यूम ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों को एक पत्र लिखकर एक देशसेवी संस्था की स्थापना के लिए प्रेरित किया। तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डफरिन ने इस विचार का समर्थन किया। इस वातावरण में राजनैतिक संस्था की स्थापना अवश्यम्भावी था।

कांग्रेस का जन्म—उपरोक्त वातावरण में देशव्यापी एक संगठन स्थापित करने का विचार उठता रहा। ताराचन्द बनर्जी, नवाब बहादुर रघुनाथ राव और मिस्टर ह्यूम इस दिशा में सबसे अधिक रुचि ले रहे थे। अनेक छोटी छोटी प्रान्तीय संगठनों की स्थापनाएँ हो भी चुकी थीं किन्तु बाद में सन् १८८५ में मिस्टर ए० ओ० ह्यूम जो भारतीय सिविल सर्विस के अवकाश प्राप्त अधिकारी थे, द्वारा भारतीय

कांग्रेस की स्थापना हुई। इसमे तनिक भी सन्देह नहीं है कि तत्कालीन गवनर जनरल लार्ड डफरिन इस प्रकार की सस्था का सगठन चाहते थे और इसीलिए उन्होंने मि० ह्यूम से यह विचार प्रकट करते हुए यह कहा था कि उनकी ऐसी भावनाओं को वे उस समय तक गोपनीय रखें जब तक लार्ड डफरिन इस पद पर और भारत म हैं। इगलैंड के प्रमुख नागरिकों की शुभ कामनाएँ एकत्र करने का श्रेय भी श्री ह्यूम को है और इसकी स्थापना के बाद लगभग सन् १८६० तक जहाँ जहाँ कांग्रेस के अधिवेशन हुए वहीं के गवनरों द्वारा आगन्तुकों को प्रीतिभोज या जलाहार दिया जाता रहा। सरकारी पदाधिकारी भी इसके सदस्य बनने के लिए स्वतन्त्र रहे। इस प्रकार सन १८८५ मे स्थापित होकर सन् १८६० तक यह सस्था सब लोगों के सहयोग से उन्नति करती गई। प्रथम अधिवेशन पूना म हुआ और देश के विभिन्न भागों से ७२ प्रतिनिधि आए और फिर प्रत्येक अधिवेशन मे सदस्यों और प्रतिनिधियों की सख्या बढती गई।

कांग्रेस में उग्रदल—जब धीरे धीरे कांग्रेस की प्रगति पूर्णरूपेण राष्ट्रीय मार्ग पर होने लगी तो अंग्रेज समथक सावधान होने लगे और इसकी प्रगति मे सहायता के स्थान पर बाधाएँ डालने लगे। शासन का व्यवहार कठोर होने लगा। राज्य कमचारियों पर सदस्यता के लिए बन्धन लगाए जाने लगे। परन्तु कांग्रेस आगे बढती ही गई। अंग्रेजो का शासन भी धीरे धीरे नए एक्ट बनाकर दमता ला रहा था। ऐसी स्थिति म कांग्रेस ने अपने अधिवेशनो मे शासन की आलोचना आरम्भ की। १८६१ क एक्ट के बाद यहाँ प्रतिनिधित्व प्रणाली को स्थान दिया जा रहा था किन्तु फिर भी १८६२ के लाहौर अधिवेशन म गोखले ने निराशा व्यक्त की। अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी ने शान्ति और धैय रखने की बात कही और अंग्रेज सदस्यों का भी यही विचार रहा। अभी तक कई अंग्रेज भी कांग्रेस क अध्यक्ष बन चुक थे। परन्तु अब धीरे धीरे धारणाए बदल रही थी। देश म अकाल और प्लेग का प्रकोप फैलता था, सरकार औपचारिक कायवाहियों द्वारा उनके निवारण मे लगती थी। दूसरी ओर सम्राट के राज्याभिषेक के रूप म दिल्ली दरबार किए जाते थ। ऐसी विरोधी घटनाओं से देश के नवयुवकों म आवेश बढ रहा था। आतंकवादी लोग विदेशियों की हत्याएँ करने लगे। सरकार उन्हे फासी के तख्तो पर चढाने लगी। लाल बाल और पाल (लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक और विपिन चन्द्रपाल) राष्ट्रीय कांग्रेस म नव जीवन लाने का प्रयत्न कर रहे थे। उनका नारा था— हम कोई दलील, कोई अपील और कोई वकील नही चाहिए। "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर ही रहेंगे। लार्ड कर्जन के समय मे भारत का वातावरण और भी क्षुब्ध हो गया। उसने नए कठोर कानून बनाए, बंगाल का विभाजन किया और विश्वविद्यालयों मे हस्तक्षेप की नीति अपनाई। देश मे इन सबका घोर विरोध हुआ। कलकत्ता मे बग भग रूप आन्दोलन बहुत उग्र हो गया। इसी वर्ष बनारस मे कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और गोखले ने अंग्रेजों

विरुद्ध अधिकारों की रक्षा के लिये बहुत संघर्ष और क्रांति की। सर्वप्रथम वहीं सत्याग्रह का प्रयोग किया और विदेश में प्रसिद्धि प्राप्त की। उस समय असहयोग ही उनके शस्त्र और सत्य एवं अहिंसा ही उनके नारे थे। इस क्रांति के फलस्वरूप जनरल स्मट्स ने उनके साथ समझौता भी किया था किन्तु वह व्यवहार में नहीं लाया गया। महात्मा जी ने भारतवर्ष में आकर उसी अनुभव के द्वारा यहाँ आन्दोलन आरम्भ किया और देश को नया साधन और नवीन शक्ति प्रदान की। सन् १९२० से लेकर १९४७ तक का राष्ट्रीय आन्दोलन उन्हीं के नेतृत्व में संचालित हुआ इसलिये इस युग को गांधी युग कहा जाता है।

प्रथम विश्व युद्ध (१९१४–१९१८) के बाद ब्रिटिश सरकार ने क्रमशः भारत को स्वतन्त्र करने की घोषणा की और कुछ कार्य भी इस दिशा में आरम्भ हुआ, किन्तु इस समय तक भारत में राष्ट्रीय जागृति बहुत हो चुकी थी इसलिए शासन में सुधार और साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व से ये सन्तोष स्थापित करने में असमर्थ रहे। दूसरी ओर सरकार अनेक दमनकारी नियमों की सहायता से इस उठती हुई क्रांति को समाप्त करने में भी सचेष्ट थी। रौलट एक्ट द्वारा किसी भी व्यक्ति को केवल सन्देह के आधार पर ही दण्डित करने के अधिकार प्राप्त कर लिए गये और कई उग्र नेताओं को दण्डित भी कर दिया। इससे वातावरण क्षुब्ध होने लगा। लाला लाजपतराय ने इस कानून की कड़ी आलोचना की परन्तु सरकार के कान पर जूँ तक न रेंगी। ऐसी स्थिति में गांधी जी ने देशव्यापी आन्दोलन आरम्भ किया और स्वयं उसका नेतृत्व करने लगे। समस्त देश में इस नियम के विरुद्ध हड़तालें हुईं प्रदर्शन किये गये। सरकार ने यह आन्दोलन कुचलना चाहा और घोर दमन चक्र चलाया। इस आन्दोलन का अति उग्र रूप पंजाब में प्रकट हुआ। अमृतसर के जलियाँवाला बाग में विराट सभा हुई। धारा १४४ लागू होने हुए भी करीब २०,००० व्यक्ति एकत्रित हुए और सभा सञ्चालित हुई किन्तु अंग्रेजों की नृशंसता अन्तिम सीमा पर थी। जनरल डायर नामक एक फौज की टुकड़ी लेकर पहुँचा और बिना किसी प्रकार की चेतावनी दिए मुख्य द्वार पर, जो कि एक मात्र आने जाने का मार्ग था, मशीनगनें लगाकर गोली चलाना आरम्भ कर दिया। फलस्वरूप लगभग ३७९ व्यक्तियों की मृत्यु हुई और १२०० व्यक्ति घायल हुए। यदि उस सैनिक टुकड़ी के कारतूस समाप्त न हुए होते तो पता नहीं और कितना अनर्थ होता। इस हत्याकाण्ड ने देश की आँखें खोल दीं और आबालवृद्ध एक स्वर से अंग्रेजों का विरोध करने लगे। यह उग्र आन्दोलन का श्रीगणेश था। मुसलमानों के विरुद्ध टर्की में भी अंग्रेज ऐसा ही व्यवहार कर रहे थे इसलिए यहाँ के मुसलमान भी अंग्रेजों का विरोध करने लगे। इस समय गांधी जी ने आन्दोलन को अपने हाथ में लेकर नई दिशा प्रदर्शित की।

असहयोग आंदोलन—सन १९२० के कलकत्ता अधिवेशन में गांधी जी ने कांग्रेस के समक्ष ब्रिटिश सत्ता के साथ असहयोग करने की योजना रक्खी और बहुमत से यह स्वीकार कर ली गई। सन १९१९ के विधान के प्रति असन्तोष प्रकट किया

और धीरे धीरे असहयोग की भावना प्रबल होती गई। विद्यार्थी वर्ग गांधी जी का अनुयायी बन गया और नागरिकों ने ब्रिटिश उपाधियाँ जला दीं, वकालत छोड़ दी, स्वदेशी चीजों का सम्मान बढ़ा और जेल जाना गौरव की बात समझी जाने लगी। सन् १९२१ में इंगलैंड के महाराजकुमार भारत आये किन्तु उनका स्वागत भी हड़ताल द्वारा हो हुआ। धीरे धीरे यह आन्दोलन उग्र रूप लेकर हिंसात्मक कार्यों पर उतरने लगा। जन-समूह भावना में अनुचित शक्ति प्रयोग करने लगा चौरी चौरा आदि स्थानों में भीड़ ने पुलिस के लगभग २०–२१ आदमी जिन्दा जला दिए। इन्हीं घटनाओं से गांधी जी ने यह आन्दोलन स्थगित कर दिया। सरकार ने गांधी जी को ६ वर्ष का कारावास दिया।

आन्दोलन स्थगित होने पर बहुत निराशा फैली। कुछ नेता कांग्रेस से अलग हो गये। श्री मुहम्मदअली जिन्ना मुस्लिम लीग में और दामोदर सावरकर हिन्दू महासभा में चले गये। कुछ नेता लोग वैधानिक साधनों से सरकार के कामों में अवरोध उत्पन्न करना चाहते थे। श्री मोतीलाल नेहरू विट्ठल भाई पटेल और श्री चितरंजनदास इनमें मुख्य थे। इन लोगों ने "स्वराज्य पार्टी" की स्थापना की और सन् १९२३ में अपना कार्यक्रम आरम्भ कर दिया। सभा प्रवेश कर इन लोगों ने सरकार के कार्य में बाधा उत्पन्न करनी चाही किन्तु सफलता नहीं मिली। धीरे-धीरे देश में और अनेक संगठन उत्पन्न हुए। श्रमिकों का ट्रेड यूनियन बनाया गया। सन् १९१९ के विधान के अनुसार १० वर्ष बाद विधान की सफलता का अनुमान लगाने के लिए आयोग की व्यवस्था की गई थी। तदनुसार सन् १९२९ में सर साइमन की अध्यक्षता में एक आयोग भारतवर्ष आया। किन्तु वातावरण अशान्त होने के कारण 'वापस जाओ' के नाद द्वारा इस आयोग का स्वागत हुआ।

इन घटनाओं से देश में राष्ट्रीय भावना उत्तरोत्तर बढ़ती गई और पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने का विचार बलवान होता गया। सन् १९२९ के लाहौर अधिवेशन में इस सम्बन्ध का प्रस्ताव भी पारित कर लिया गया और २६ जनवरी सन् १९३० को रावी नदी के तट पर कांग्रेस ने और समस्त देश ने अपने अपने यहाँ स्वाधीनता की प्रतिज्ञा की। उसी की स्मृति में हमारा नया संविधान २६ जनवरी को ही स्वीकार करके गणतन्त्र दिवस के नाम पर यह दिवस सदा के लिए चिर स्मरणीय बनाया गया है। इसके पश्चात गांधी जी ने नमक कानून भंग किया। फिर गोल मेज सभायें हुई। साम्प्रदायिक प्रश्न पर गांधी जी ने टक्कर मोर्चा लिया। ब्रिटिश सरकार अछूतों को हिन्दुओं से पृथक कर अपनी "विभाजित करो और शासन करो" नीति का पालन करना चाहती थी। साम्प्रदायिक पंचाट (Communal Award) द्वारा यही घोषणा की गई। इस पर गांधी जी ने अपने प्राणों की बाजी लगा दी। अन्त में सरकार को झुकना पड़ा और प्रसिद्ध पूना समझौता हुआ।

धीरे धीरे ब्रिटिश सरकार को यह विश्वास होने लगा कि अब भारतवासियों को कुछ सत्ता हस्तान्तरित किये बिना काम चलता नहीं। इसलिए सन् १९३५ में नवीन विधान स्वीकार किया और भारतीय संघ की स्थापना का प्रस्ताव रक्खा।

प्रान्तों में स्वाधीनता देना स्वीकार किया। यद्यपि सम्पूर्ण विधान राष्ट्रीय नेताओं को रुचिकर नहीं हुआ किन्तु फिर भी प्रान्तीय भाग अपनाने के लिए सम्मत हो गये। सन् १९३७ में देश में निर्वाचन हुआ। ११ में से ८ प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत मिला। मंत्रिमण्डल बनाये गये और स्वशासन आरम्भ हुआ। किन्तु कुछ समय बाद सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ और ब्रिटिश सरकार ने स्वेच्छा से ही भारत को युद्ध में लगा दिया। इसके विरोध में मंत्रिमण्डलों ने त्याग पत्र दे दिये और पुनः आन्दोलन आरम्भ हुआ। चर्चिल ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारतवर्ष भेजा और सहयोग के लिए प्रार्थना की। अपने साथ लाई हुई योजना भी उन्होंने प्रस्तुत की, जिसे 'क्रिप्स योजना' कहते हैं। परन्तु यह सफल नहीं हुई।

"भारत छोड़ो' आन्दोलन—भारतवर्ष के समस्त राजनैतिक दलों ने क्रिप्स योजना को ठुकरा दिया। वास्तव में वह योजना अनेक दोषों से पूर्ण थी और तत्काल उपयोग में आने वाली बातों का उसमें सर्वथा अभाव था। समस्त आश्वासन भविष्य के लिए दिये गये थे। अतः देश में असन्तोष बढ़ता ही गया, वातावरण क्षुब्ध हो गया। कांग्रेस कार्य समिति ने अन्त में एक प्रस्ताव पास किया कि ब्रिटिश गवर्नमेंट से भारत छोड़ने का आग्रह किया जाय। इसे 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव कहते हैं। ८ अगस्त सन् १९४२ को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने भी यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। गांधी जी ने 'करो या मरो' का सिद्धान्त प्रचारित किया। फलतः ब्रिटिश सरकार का दमन चक्र पुनः घूम उठा। उसी रात्रि को कांग्रेस के प्रमुख सभी नेता बन्दी बना लिए गये और अज्ञात स्थानों को भेज दिए गये। अनेक नेता गुप्त हो गये और ९ अगस्त के प्रातःकाल से देश भर में नेतृत्व के अभाव में अन्धकार छा गया। किन्तु देश के अन्दर आन्दोलन की प्रचण्ड अग्नि धधक उठी। सरकार अत्याचार और नृशंसता पूर्वक दमन में लगी और देश के प्रत्येक नर नारी सरकार को उखाड़ने में। लाठियाँ और गोलियाँ चलीं, सहस्रों भारतीय बन्दी बनाये गये। किन्तु भारतीय नागरिकों ने भी रेल की पटरियाँ उखाड़ीं, तार टेलीफोन काट दिए, दफ्तरों में आग लगा दी और शक्ति प्रयोग द्वारा कई स्थानों पर सत्ता स्थापित कर ली। बाबू जयप्रकाश, डा० लोहिया, अरुणा आसफअली, श्रीमती सुचेता कृपलानी आदि इस आन्दोलन के प्रमुख नेता थे। राजस्थान में सबसे अधिक आन्दोलन कोटा में हुआ। ३ दिवस तक समस्त नगर पर जनता का आधिपत्य रहा और पूर्ण स्वाधीनता का उपभोग किया गया। किन्तु बाद में सरकार ने शक्ति प्रयोग द्वारा पुनः शासन व्यवस्था जमा ली। लोगों पर सामूहिक अर्थ दण्ड किये और अन्य अनेक अत्याचारों द्वारा सारा आन्दोलन दबा दिया। किन्तु यह केवल ऊपरी शान्ति थी। भीतर से ज्वाला निरन्तर प्रज्वलित होती रही।

इसके पश्चात् शिमला कान्फ्रेंस हुई, कैबिनेट मिशन योजना प्रस्तुत की गई। किन्तु जब अंग्रेजों ने देखा कि अब भारतवर्ष में पुलिस, सेना आदि में राष्ट्रीय भावना से ओत प्रोत हो गई है और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति भी उनके पक्ष में नहीं है तब अपनी उदारता वृत्ति, और प्रजातांत्रिक परम्पराओं से प्रभावित होकर उन्होंने

घोषणा की कि जून सन ४८ तक वे अपनी सत्ता भारत से हटा लेंगे। अन्त में १४ अगस्त सन् १९४७ की अर्ध रात्रि को अखण्ड भारत के दो भाग भारत और पाकिस्तान दोनों स्वतन्त्र उपनिवेश राज्य बन गये। देश का विभाजन अत्यन्त खेद जनक रहा किन्तु और कोई रास्ता न होने की स्थिति में यह विष घूट स्वीकार करना पड़ा।

स्वतन्त्र भारत—गांधी जी ने अनेक बार कहा था कि मैं स्वतन्त्र भारत में ही मरूँगा। १४ अगस्त सन् ४७ को भारत स्वतन्त्र हुआ और ३० जनवरी सन् १९४८ को गोडसे नाथूराम ने गांधी जी की हत्या कर दी। संसार भर में उस दिन शोक का साम्राज्य छा गया। अपने कठोर परिश्रम अद्वितीय त्याग और तपस्या तथा विलक्षण नेतृत्व द्वारा देश को पराधीनता से स्वतन्त्रता की ओर लाये थे किन्तु वे ही अधिक समय इस स्वतन्त्र भारत का स्वरूप नहीं निहार सके, यह भारत का ही दुर्भाग्य था। उन्हें राष्ट्रपिता के रूप में स्वीकार कर हमारी सरकार ने उन्हें यथोचित स्थान दिया है। अनेक रूपों में देश उनका ऋणी है। जीवन की सादगी, स्वाभिमान, स्त्रियों की समानता जाति पांति से मुक्ति गौरक्षा का महत्त्व अछूतोद्धार भगवान में आस्था आदि अनेक प्रशंसनीय कार्य गांधी जी ने किये हैं। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने सर्वप्रथम उन्हें महात्मा कहा था और तब से वे महात्मा के रूप में ही सर्वत्र माने जाने लगे। वास्तव में ऐसा ही व्यक्तित्व हमारे राष्ट्रपिता के पद के योग्य था। भारतवर्ष जैसे बुद्ध, अशोक आदि का नाम गौरव से लेता है आने वाली पीढ़ियां भी गांधी जी को उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान करती रहेंगी।

देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् लाखों व्यक्तियों के आवागमन से नई समस्यायें उत्पन्न हुई। सुरक्षापूर्वक उनको लाना और फिर यहां बसाना एक संकटमय कार्य था किन्तु बड़े साहस के साथ हमारे देश ने उसे पूरा किया। नवीन गणतन्त्रात्मक विधान का निर्माण और अनेक प्रकार के देशी राज्यों की समस्या का निपटारा भी एक गम्भीर प्रश्न था। इसके बाद खाद्य संकट का सामना करना पड़ा। पं० नेहरू के सुयोग्य नेतृत्व में देश ने अनेक आपत्तियों का सामना करते हुए भी नवीन योजनाओं के अनुसार देश को हर प्रकार से सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में उन्नत बना दिया और अब अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अपना प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है। भाखरा नांगल आदि अनेक जल विद्युत योजनायें, चितरंजन आदि कारखाने सामुदायिक योजनायें और विस्तार सेवा खण्डों के संगठन द्वारा देश का सारा चित्र सुन्दर बनाने में व्यस्त है। इन सभी चीजों के साथ नवीन प्रयोग भी निरन्तर चल रहे हैं। लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का नवीनतम अध्याय अभी ही प्रारम्भ हुआ है। राजस्थान इस क्षेत्र में अग्रणी बना है। यह हर्ष का विषय है कि हमारी सरकार ने इसमें अप्रत्याशित सफलता प्राप्त की है और अब समस्त देश में राजस्थान ही इस क्षेत्र का नेतृत्व करने योग्य बन गया है।

इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी 'पंचशील' और सह अस्तित्व के सिद्धान्तों द्वारा अनुपम आदर्श की स्थापना की है और आन्तरिक और बाह्य दोनों क्षेत्रों में

भारतवर्ष ने अपना सम्मान स्थापित कर सकना प्राप्त किया है। अब आगे भारतवर्ष किस सीमा तक उन्नति करता है यह इसके नागरिकों के परिश्रम और योग्यता पर निर्भर है। अभी तक की प्रगति तो सन्तोषजनक है। भविष्य का प्रश्न एक कठिन समस्या है। किन्तु फिर भी आशा है कि हमारा देश परम्पराओं और विश्वास के आधार पर चलता है इसलिए भविष्य भी उज्ज्वल होगा यह मानकर चलना चाहिए।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ प्रथम क्रांति भारत में किस प्रकार हुई? उसके क्या कारण थे? लिखिए।
२ भारत की राष्ट्रीय जागृति के लिए कौन कौन से तत्व उत्तरदायी हैं, लिखिए।
३ भारतवर्ष में सन १८८५ से लेकर सन १९२० तक के राष्ट्रीय जागरण का इतिहास लिखिए।
४ 'गांधी युग' किसे कहते हैं? इस युग का वर्णन कीजिए।
५ 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का प्रभाव और महत्व बतलाइए।

— • —